साहित्य-चयन

(हिन्दी गद्य और पद्य का संग्रह)

सम्पादक

जैनेन्द्रकुमार

राजपाल एण्ड सन्स

नई सड़क : दिल्ली

मूल्य : दो रुपये

प्रथम संस्करण
मूल्य : दो रुपये

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्स
नई सड़क : दिल्ली।

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्ज रोड, दिल्ली।

प्रस्तावना

प्रस्तुत संकलन एक आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से किया गया है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र और प्रभाव बढ़ रहा है। जगत की मान्य भाषाओं में आज उसका स्थान है। उसी अनुपात में भारतवासियों का, और कल नागरिक के रूप में स्थान लेने वाली आज किशोर पीढ़ी का दायित्व बढ़ रहा है। सोचा गया कि दसवीं श्रेणी या आसपास की कक्षाओं के अनुकूल वय के विद्यार्थियों के लिये एक ऐसा चयन प्रस्तुत किया जाय जो उन्हें भावी दायित्व को सहन करने के योग्य बनाने में सहायक हो।

इस दृष्टि से ये बातें उल्लेखनीय है—

१—भाषा की स्थिति स्वतंत्र नहीं है। वह साहित्य के साथ है। इसलिये इस चयन से केवल भाषालालित्य की जगह भावोत्कर्ष को महत्व दिया गया है।

२—सरल, सुबोध, और प्रवाही शैली को पसंद किया गया और उत्तम माना गया है।

३—ऐहिक परिचय और बोध से अधिक आत्मजागरण और सहानुभूति-विस्तार को साहित्य-शिक्षा का प्रमुख इष्ट समझा गया है।

४—हिन्दी को विस्तृत रूप में देखा गया है, अर्थात् ब्रज, अवधी, मैथली, राजस्थानी, किंचित् पंजाबी और उर्दू आदि को हिन्दी की शैली मान कर उनका समावेश भी पुस्तक में किया गया है। किन्तु ध्यान रहा है कि चुनी हुई सामग्री हिन्दी के प्रवाह में खप जाने वाली हो।

५—सामयिक आग्रह और मतावेशों से अछूती वे रचनाएं ही ली गई हैं जो साहित्य में स्थाई स्थान रखने वाली हों।

६—संग्रह में तीन अनुवाद भी हैं। रवीन्द्र और बंकिम अनुवाद द्वारा भी मौलिक जैसे प्रतीत हो सकते हैं। बंगला हिंदी से दूर नहीं है और दोनों भारत के मूर्धन्य पुरुष हैं। टाल्सटाय आत्मा की ओर से भारत के अपने माने जा सकते हैं। तिस पर उनकी रचना का अनुवाद ऐसा सहज और स्वतंत्र है कि उसका योग यहां किसी भी प्रकार अयुक्त नहीं माना जा सकता।

आशा है चयन उपयोगी सिद्ध होगा।

७, दरियागंज
१६–५–५०

—जैनेन्द्रकुमार

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

(गद्य-भाग)

द्वितीय खण्ड

(पद्य-भाग)

प्रथम खण्ड
(गद्य भाग)

अद्भुत त्याग

मोहनदास क० गांधी

पैगम्बर साहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हज़ारों योद्धा खेत रहे, बहुत से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आमतौर से लड़ाई बन्द हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बन्द हुई तब अरब सेना में एक अरब अपने चाचा के बेटे को ढूंढ़ने निकला; उसकी लाश मिल जाये तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानी के लिये तड़प रहा हो, यह सोचकर इस भाई ने, अपने साथ लोटा भर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जारहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी'-'पानी' की पुकार सुनाई दी। अतः उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाओ"। जिस ओर से आवाज आ रही थी उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुँचा।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी

पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अतः बड़ी कठिनाई से कुछ बोल कर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। निःश्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेग से दौड़ कर जहां से अन्तर्नाद आ रहा था वहां पहुँचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस लेली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी न मिला। अतः यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहाँ पड़ा था वहां झटपट पहुँचा; पर देखता है तो उसकी आँखें भी अब तक मुन्द चुकीं थीं। दुख भरे हृदय से और खुदा की बन्दगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुँचा; तो उसकी नाड़ी भी बन्द पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

दो तीन घायलों में किसी ने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़ कर हम दो बूंद आँसू भी गिरा देते हैं; पर ऊपर जो अद्भुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हम में भी आए और जब हमारी परीक्षा का समय आए तब दूसरों को पानी पिलाकर पियें और दूसरों को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायें।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एक मात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसी से संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी जैसी कोठरी के अन्दर बहुत से आदमी ठूंस दिये गये हों, एक ही सूराख से थोड़ी सी हवा आ रही हो उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जाये। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय

आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नम्बर पर पानी की आवश्यकता—प्यास है। पानी पानी के प्याले के लिये मनुष्यों के एक दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौके पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हममें आये; पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सब की रोज़ हुआ करती है। हम सब को अपने आप से पूछना चाहिये—जब जब वैसा अवसर आता है तब तब क्या हम अपने साथियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं? न रहते हों तो हम नापास हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमको नहीं आता।

नीति में सार्वजनिक कल्याण

मोहनदास क० गांधी

अक्सर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीति में सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीश में अगर न्याय बुद्धि हो तो जिन लोगों को उसकी न्यायी अदालत में जाना पड़े वे सुखी होते हैं। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता आदि गुण दूसरों के साथ होने पर ही प्रकट किये जा सकते हैं। वफादारी का बल भी हम एक-दूसरे से सम्बन्ध होने पर ही दिखा सकते हैं। स्वदेशाभिमान के विषय में तो कहना ही क्या। वास्तविक स्थिति को देखने से यह दिखाई देगा कि नीति का एक भी विषय ऐसा नहीं है जिसका फल अकेले नीति का पालन करने वाले को ही मिलता है। अक्सर कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणों का सामने वाले मनुष्य, विपक्षी के साथ कोई लगाव नहीं होता। पर हम झूठ बोलकर किसी को ठगें तो उससे विपक्षी की हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलने से उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाज को नापसन्द करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्य का असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार लोक में रहता है और

विचारों की दुनिया अभी पैदा होने को है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमी के लिये प्रचलित व्यवहार नीति विशेष का अनादर करने के लिये यह ख्याल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नहीं है। ऐसा आदमी सदा दूसरों को अपने विचार के अनुसार आचरण कराने के यत्न में लगा रहेगा। ऐसे ही पैगम्बरों ने दुनिया के चक्रों की गति फेरी है।

मनुष्य जब तक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरों के सुख की परवा नहीं करता तब तक वह पशु सदृश, बल्कि उससे भी गया-बीता है। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब हम उसे अपने कुटुम्ब का बचाव करते देखते हैं। वह उस वक्त मानव-जाति में और ऊंचा स्थान पाता है जब अपने देश या जाति को अपना कुटुम्ब मानता है। जब सारी मानव जाति को वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपान पर चढ़ता है, अर्थात् मनुष्य मानव जाति की सेवा में जितना पीछे रहता है, उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्री के लिये, अपने बेटे के लिये मुझे दर्द हो, पर उससे बाहर के आदमी के लिये मेरे दिल में दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव जाति के दुःख की अनुभूति नहीं है, पर स्त्री, बच्चे या कौम जिसको मैंने अपना मान रखा है उनके लिये भेद-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से कुछ दर्द होता है।

अतः जब तक हमारे मन में हर एक मानव-संतान के लिये दया न हो तब तक हमने नीति धर्म का पालन नहीं किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे हैं कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखने वाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानी हम सदा उसकी सेवा करते रहें यह हमारा फर्ज है। हमें यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी के ऊपर नहीं है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करने वाला आदमी इस दुनिया के रेले में पड़कर पिस जायगा। पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि

यह जगत् प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक निष्ठा से सेवा करने वाले आदमी को खुदा ने हमेशा बचा लिया है।

इस नीति के पैमाने से मनुष्य मात्र समान है। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरह का काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पद-अधिकार भोगता हूँ, तो उस पद की जिम्मेदारी उठाने की मुझ में शक्ति है। इससे मुझे गर्व से इतराना नहीं चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग जो छोटी जिम्मेदारी उठाते हैं मुझसे हेठे हैं। पूर्ण साम्य तो हमारे मन की स्थिति पर अवलम्बित होता है। जब तक हमारे मन की यह स्थिति नहीं होती तब तक हम पिछड़े हुए हैं।

इस नियम के अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिये दूसरी जाति या राष्ट्र पर राज्य नहीं कर सकता। अमरीका की गोरी जनता का वहां के मूल निवासियों को दबाकर उन पर हुकूमत करना, यह नीति विरुद्ध है। ऊंची शिक्षा संस्कार वाली जाति का नीची जाति से सामना पड़े तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठाकर अपने बराबर करलें। इस नियम के अनुसार राजा प्रजा पर हुकूमत करने वाला नहीं, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगने के लिए नहीं, बल्कि प्रजा को सुखी करने के लिए होता है। प्रजातंत्र राज्य में लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियम के अनुसार एक राज्य में बसने वाले या एक कौम के आदमियों में जो बलवान हो उनका काम है दुर्बलों की रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-व्यवस्था में भूखों मरने वाले नहीं हो सकते और न यही हो सकता है कि कुछ लोगों के पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाये, इसलिये कि हम अपने पड़ोसी का दुःख देखते रहें और स्वयं सुखी रहें। यह हो नहीं सकता। परम नीति का अनुसरण करने वाले आदमी से धन बटोरने का काम

होने वाला नहीं। ऐसी नीति दुनिया में थोड़ी दिखाई देती है, यह सोचकर नीतिवान को घबराना नहीं चाहिए; क्योंकि वह अपनी नीति का मालिक है, उसके नतीजे का नहीं। नीति का आचरण न करने से वह दोषी माना जायेगा, पर उसका असर जनसमाज पर न हो तो कोई उसको दोष नहीं दे सकता।

चिर तारुण्य की साधना

विनोबा भावे

तुम्हारे खेल देखकर आनन्द हुआ। देश का भविष्य तुम बाल-गोपालों के हाथ में है। तुमने जो खेल दिखाये, वे किसलिए हैं? शक्ति प्राप्त करने के लिए हैं। शक्ति किसलिए? गरीब लोगों की रक्षा के लिए, इसलिए कि गरीबों के लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर घिसने के लिए तगड़ा बनाना है। चाकू में धार किसलिए लगाई जाती है? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जङ्ग खा जाय: बल्कि इस लिए कि वह काम आ सके। शरीर में धार लगानी है, उसे फुर्तीला चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर हम उसे चन्दन के समान घिस सकें। बल सेवा के लिए है।

गीता में श्री भगवान ने कहा है, 'बलं बलवतामस्मि कामराग विवर्जितम्।' (बलवानों में वैराग्ययुक्त निष्काम बल हूँ।) शब्दों पर खूब ध्यान दो। सिर्फ बल नहीं कहा। 'वैराग्ययुक्त निष्काम बल।' इस वैराग्ययुक्त निष्काम बल की ही मूर्ति हम व्यायामशालाओं में रखा करते हैं। यह कौनसी मूर्ति है? हनुमानजी की पवित्र और सामर्थ्यवान् मूर्ति। हनुमान जी वैराग्ययुक्त निष्काम बल के पुतले थे। इसलिए वाल्मीकि ने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी महा बलवान था, लेकिन रावण का में वैराग्य नहीं था। रावण का बल भोग के लिए था,

दूसरों को सताने के लिए था। रावण पहाड़ उठाता था; वज्र तोड़ डालता था, दस आदमियों का बल मानो उस अकेले में था। इसलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखलाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूल में मिल गया। हनुमान का बल अजरामर हो गया है। वाल्मीकि ने बल की ये दो मूर्तियां, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावण के बल में भोग-वासना थी। रावण बल के द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बल के द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवा को अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोग को अर्पण किया हुआ बल अपने और संसार के नाश का कारण होगा।

समुद्र के तीर पर सारे वानर बैठे थे। लंका में कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवन्त हनुमान के पास जाकर बोला, "हनुमान तुम जाओगे?" हनुमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो तो जाऊंगा।"

वह अकेला वानर किस शक्ति के बूते उन बलवान राक्षसों में निर्भय होकर चला गया? हनुमान से जब यह सवाल पूछा गया तब उसने क्या यह जवाब दिया कि मैं अपने बाहुबल के जोर पर आया? हनुमान बोला, "मैं राम के भरोसे यहाँ आया हूँ। मेरे बाजुओं में जोर है या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम। परंतु राम का बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराई से सोचो, तो बाहुबल का भी क्या अर्थ है? बाहुबल के मानी हैं शारीरिक श्रम करने की शक्ति। इसी के लिए ये हाथ हैं। सेवा के लिए ही हम हस्तवान हैं। पशु के हाथ नहीं है। भुजाओं के बल के प्रयोग से हम अन्न का निर्माण करें, सेवा करें। हमारी कलाइयों में यह जो सेवा करने की शक्ति है, वह किसकी शक्ति है। हनुमान जानता था कि वह आत्मा की शक्ति है, राम की शक्ति है।

दूसरी बात यह है। भुजाओं में जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धा पर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलों में भी आत्मश्रद्धा से बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धा का बल है वह दूसरे सौ आदमियों को भी कंपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बल की उपासना चाहिए।

हनुमान में पशुबल नहीं था। हनुमान का जो स्तुतिश्लोक है उसमें दूसरे बलों का वर्णन है; परन्तु शरीरबल का उल्लेख कहीं नहीं है। यथा—

मनोजवं, मारुत-तुल्य-वेगम्;
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यम्,
श्री राम-दूतं शरणं प्रपद्ये॥

(मन के समान वेगवान, वायु के समान वेगवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानों में वरिष्ठ पवनसुत, वानरों के सेनापति रामदूत की मैं शरण जाता हूं।)

हनुमान मन और पवन के समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यन्त बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातों का वर्णन है। हनुमान बल का देवता है। लेकिन इस स्तुति में बल का ज़िक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? परन्तु ये गुण ही वास्तविक बल है। ये गुण ही यथार्थ कार्यशक्ति हैं।

मनुष्यों में वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मन के समान वेग चाहिए। सामने काम देखते ही उसे चट से आनन्द से छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ विजय करने का संदेश आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो मन सेवा की मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता; वह आलस में लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस काम का? ज्ञानेश्वर ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए? ज्ञानेश्वर कहते हैं—'अंग मनापुढें ये दौड़ा'—शरीर मन के आगे-आगे दौड़ता है।

कोई बात मन में आने से पहले ही शरीर दौड़ने लग जाना चाहिए।

शरीर में इस प्रकार का वेग होने के लिए ब्रह्मचर्य चाहिए, जितेन्द्रियत्व चाहिए, इन्द्रियों पर काबू चाहिए। संयम के बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयम के साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा राम की भावना चाहिए। जहाँ राम कहें, वहां जाने के लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तान के करोड़ों देवता तुम्हारी सेवा के इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवा की जरूरत है। इस सेवा के लिए तैयार रहो। वेगवान बुद्धिमान, संयमी, सेवा के शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशाला के अखाड़े में कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मण में हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। और हम इसी समभाव से आइन्दा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। मगर तुम इस समभाव का पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेलोगे, जो कुश्तियां लड़ोगे, उनमें से कल्याण ही होगा।

खेल में हम समभाव सीखते हैं। शिष्ट, (अनुशासन) व्यवस्था का महत्व सीखते हैं। इन खेलों के अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेत की जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीन में घुस रही हैं—कैसा सुन्दर दृश्य दिखेगा। इस खेल में आदर्श व्यायाम होना। उसमें बुद्धि के प्रयोग की भी गुंजायश है। व्यायाम में बुद्धि को भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मत से व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करने वाला होना चाहिए।

यहां के खेलों से तुम्हारे अन्दर शक्ति और प्रेम दोनों पैदा हों सब तरह के, सब जातियों के, लड़के एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेम का विकास होता है। ये संस्मरण अगले जीवन में

उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लड़े, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया, आदि संस्मरणों से आगे चलकर तुम एकत्र होगे। संघ शक्ति और सहकारिता बढ़ेगी।

तुम गणवेष (वर्दियाँ) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। परन्तु तुम्हारी पोशाक खादी की ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे वे भी मुरदार चमड़े के हों। हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूंद-बूंद से ही घड़ा भरता है। राष्ट्र में सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये हैं। संपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षण के लिए गाय के—मरी हुई गाय के—चमड़े से बनी हुई चीजें ही बरतनी चाहिए। रोटी के लिए किसान को जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो वे जीयेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घर पर रोटी नहीं मिलती तो यहां आकर कैसे उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घर पर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूदें-फांदें। अन्न कूदने-फांदने की शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्नं वाव बलाद् भूयः (अन्न बल से श्रेष्ठ है) राष्ट्र में अगर अन्न न होगा, तो बल कहां से आयेगा? पहले अन्न का इन्तजाम करोगे, तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्न का प्रबन्ध होगा तब ज्ञानदान का प्रबन्ध हो सकेगा।

एक बार भगवान बुद्ध का एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्म का उपदेश देने लगा। उस भिखारी ने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज़ हुआ। बुद्ध के पास जाकर बोला "वहाँ एक भिखारी बैठा है, मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्ध ने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।"

वह प्रचारक उसे बुद्ध के पास ले गया। भगवान बुद्ध ने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि यह भिखारी तीन चार दिनों से भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारक ने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान् बुद्ध ने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्न की ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीएगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्र की आज यही दशा है। आज राष्ट्र में अन्न ही नहीं है। राम-राज्य के जमाने में अन्न भरपूर था। आज की तरह उस समय हिन्दुस्तान की सम्पत्ति का सोता सूखा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राण की, बल की, उपासना पर बल दिया। आज देहातों में सिर्फ अखाड़े खोल देने से काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्र में अन्न की उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्र का संवर्धन होगा। बलवान् तरुणों को राष्ट्र में अन्न और दूध की अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिन्दुस्तान को फिर से 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे। परन्तु आज तो खादी की पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नहीं—जानवर के चमड़े का पट्टा पहन अन्नदान और गोपालन में हाथ बटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबों के पेट पर मत मारो। तुम गरीबों के संरक्षण के लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनका संरक्षण करोगे न? तुम खाकी परिधान करके देश के बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध रोटी मांगोगे देहातियों से? वे तुम्हें कहाँ से देंगे, भैया? इसलिए खाकी ही पहिननी है, तो खाकी खादी पहनो।

सब धर्मों के विषय में उदार भावना रक्खो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओं को पूज्य मानेगा। वह अपनी माता की

सेवा करेगा; लेकिन दूसरे की माता का अपमान नहीं करेगा। हरेक अपनी मां के दूध पर पलता है। धर्म माता के समान हैं। मुझे मेरी धर्ममाता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं; इसलिए मैं दूसरे की माता की निन्दा तो हरगिज नहीं करूंगा।

दिल में यह भाव पैदा होने के लिए यथार्थ भक्ति की जरूरत है। चित्त में यथार्थ भक्ति जाग्रत होने पर यह सब होगा। बाहर उपासना और अन्दर उपासना दोनों चाहिएं। बाहर खेल चाहिये, भीतर प्रेम चाहिए। खेलों के द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्मा को सौंपना है। शरीर आत्मा का हथियार है। हथियार भली भांति उपयोगी होने के लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्य के द्वारा स्वच्छ करके आत्मा के हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रक्खो, उसी प्रकार मन को भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रक्खो? खेलने की बाह्य क्रिया से शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासना से भीतरी शरीर, याने मन निर्मल रहेगा। अन्तर-बाह्य शुचि बनो, जैसा, यह हनुमान है—बलवान् और अकिंचान, सेवा के लिए निरन्तर तत्पर। तुम उम्र से तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवा के लिए शरीर चट से उठता न होगा, तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीर में वेग है, वह तरुण है; चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनुमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण हैं। चिरंजीव हैं।

ऐसे चिर-तरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्र से वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रक्खो। वृत्ति साबित रक्खो। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धि से जनता की और उसके द्वारा परमेश्वर की सेवा करने में जुट जायें।

सड़क की बात

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मैं सड़क हूँ। अहल्या जैसे मुनि के श्राप से पत्थर हो गई थी ठीक वैसे ही, मैं भी शायद किसी के श्राप से चिरनिद्रित सुदीर्घ अजगर की भांति बन-जंगल और पहाड़-पहाड़ियों से गुजरती हुई पेड़ों की छाया के नीचे से और दूर तक फैले हुए मैदानों में ऊपर से देश-देशान्तरों को घेरती हुई बहुत दिनों से बेहोशी की नींद सो रही हूँ। जड़-निद्रा में पड़ी पड़ी मैं अपार धीरज के साथ अपनी धूल में लोटकर श्राप की आखिरी घड़ियों का इन्तजार कर रही हूं। मैं हमेशा से जहां तहां स्थिर हूँ, अविचल हूं, हमेशा से एक ही करवट सो रही हूँ; मगर फिर भी मुझे पल भर की फुरसत नहीं कि ज़रा आराम कर लूँ इतना भी सुख नहीं कि अपनी इस कड़ी और सूखी सेज पर एक भी मुलायम हरी घास या दूब डाल सकूं। इतनी भी फुरसत नहीं कि अपने सिरहाने के पास एक छोटे से छोटा नीले रंग का बन-फूल भी खिला सकूं। मैं बोल नहीं सकती; पर अन्धे की तरह सब कुछ महसूस कर सकती हूँ। दिन रात पैरों की ध्वनि, सिर्फ पैरों की आहट सुना करती हूँ। मेरी इस गहरी जड़-निद्रा में लाखों चरणों के शब्द दिन-रात दुःस्वप्न की तरह घूमते रहते हैं। मैं चरणों के स्पर्श से उनके हृदयों को पढ़ लेती हूं मैं समझ जाती हूँ कौन घर जा रहा

है, कौन परदेश जा रहा है, कौन काम से जा रहा है, कौन आराम करने जा रहा है, कौन उत्सव में जा रहा है, और कौन श्मशान को जा रहा है। जिसके सुख की घर-गृहस्थी है, स्नेह की छाया है; वह हर कदम पर सुख की तस्वीर खींचता है, आशा के बीज बोता जाता है। जान पड़ता है, जहां जहां उसके पैर पड़ते हैं वहां वहां क्षण भर में मानो एक एक लता अंकुरित और पुष्पित हो उठेगी। जिसके घर नहीं आश्रय नहीं, उसके पदक्षेप में न आशा है; न अर्थ है, उसके कदमों में न दायां है, न बायां है, उसके पैर कहते हैं, मैं चलूं तो क्यों, और ठहरूं तो किस लिये ?' उसके कदमों से मेरी सूखी हुई धूल मानो और भी सूख जाती है।

संसार की कोई भी कहानी मैं पूरी नहीं सुन पाती। आज सैकड़ों-हजारों वर्षों से मैं लाखों-करोड़ों लोगों की कितनी हँसी, कितने गीत, कितनी बातें सुनती आई हूँ, पर थोड़ी सी बात सुन पाती हूं। बाकी सुनने के लिए जब कान लगाती हूँ तब देखती हूं कि वह आदमी ही नहीं रहा। इस तरह न जाने कितने युगों की कितनी टूटी फूटी बातें और बिखरे हुए गीत मेरी धूल के साथ धूल बन गये हैं, और धूल बनकर अब भी उड़ते रहते हैं, कौन कह सकता है ?

वह सुनो कोई गा रही है—कहते कहते कह नहीं पाई। ओह, ठहरो जरा, गीत को पूरा कर जाओ, पूरी बात तो सुन लेने दो मुझे पर कहां ठहरी वह? गाते-गाते न जाने कहाँ चली गई ? आखिर तक सुन ही न पाई। बस आज आधी रात तक उसकी पग-ध्वनि मेरे कानों में गूंजती रहेगी। मन ही मन सोचूंगी, कौन थी वह ? कहां जा रही न जाने ? जो बात न कह पाई उसी को फिर कहने गई अब की बार जब फिर उससे भेंट होगी, वह जब मुंह उठाकर इसके मुंह की तरफ ताकेगा, तब 'कहते-कहते' फिर 'कह नहीं पाई' तो ? तब उससे फिर मुंह मोड़ कर सिर नीचा करके, बहुत धीरे धीरे लौटते समय फिर अगर वह गाती जाय, कहते कहते कह नहीं पाई तो ?

संमाप्ति और स्थायित्व शायद कहीं होगा, पर मुझे तो नहीं दिखाई देता। एक चरण-चिह्न को भी तो मैं ज्यादा देर तक काम पर नहीं रख सकती। मेरे ऊपर लगातार चरण-चिह्न पड़ रहे हैं; पर नये पाँव आकर पुराने चिह्नों को पोंछ जाते हैं। जो चला जाता है वह तो पीछे कुछ छोड़ ही नहीं जाता। कदाचित उसके सिर के बोझ से कुछ मिलता भी है तो हजारों चरणों के तले लगातार कुचला जाकर कुछ ही देर में वह धूल में मिल जाता है। परन्तु एक बात अभी देख रही हूं, वह यह कि किसी-किसी महापुरुष के पुष्प-स्तूप के अन्दर ऐसा एक अमर बीज पड़ गया है जो धूल में पड़कर भी अंकुरित और वर्द्धित होकर मेरे बगल में स्थायी रूप से बिराज रहा है और पथिकों को छाया प्रदान कर रहा है।

मैं किसी का भी लक्ष्य नहीं हूं। सब का उपाय-मात्र हूं। मैं किसी के घर नहीं हूं, पर सबको घर ले जाती हूं। मुझे दिन-रात यही सन्ताप सताता रहता है कि मुझ पर कोई तबियत से कदम नहीं रखना चाहता। मुझ पर कोई खड़ा रहना पसन्द नहीं करता। जिनका घर बहुत दूर है वे मुझे ही कोसते और शाप देते रहते हैं। मैं जो उन्हें परम धैर्य के साथ उनके घर के द्वार तक पहुँचा देती हूं, इसके लिये कृतज्ञता कहां पाती हूँ? वे अपने घर जाकर आराम करते हैं, घर पर आनन्द मनाते हैं, घर में उनका सुख-सम्मिलन होता है, बिछुड़े हुए सब मिल जाते हैं; और मुझ पर केवल थकावट का भाव दरसाते हैं, केवल अनिच्छाकृत श्रम हुआ समझते हैं, मुझे केवल विच्छेद का कारण मानते हैं। क्या इसी तरह बार-बार दूर ही से, घर के झरोखे में से पंख पसार कर बाहर आती हुई मधुर हास्य लहरी मेरे पास आते ही शून्य में विलीन हो जाया करेगी? घर के उस आनन्द का एक कण भी, एक बूंद भी, मैं नहीं पाऊँगी?

कभी-कभी यह भी पाती हूं। छोटे-छोटे बच्चे जो हँसते-हँसते मेरे पास आते हैं और शोर गुल मचाते हुए मेरे पास आकर खेलते

हैं। अपने घर का आनन्द वे मेरे पास ले आते हैं। उनके पिता का आशीर्वाद और माता का स्नेह घर से बाहर निकलकर, मेरे पास आकर, सड़क पर ही मानो अपना घर बना लेता है। मेरी धूल में वे स्नेह दे जाते हैं, प्यार छोड़ जाते है। मेरी धूल को वे अपने वश में कर लेते हैं; और अपने छोटे-छोटे कोमल हाथों से उसकी ढेरी पर हौले-हौले थपकियां दे-देकर परम स्नेह से उसे सुलाया चाहते हैं। अपना निर्मल हृदय लेकर बैठे-बैठे वे उसके साथ बातें करते हैं। हाय-हाय, इतना स्नेह, इतना प्यार पाकर भी मेरी यह धूल उसका जवाब तक नहीं दे पाती? मेरे लिये कैसा शाप है यह?

छोटे-छोटे कोमल पाँव जब मेरे ऊपर से चले जाते हैं तब अपने को मैं बड़ी कठिन अनुभव करती हूँ, मालूम होता है उनके पावों में लगती होगी। उस समय मुझे कुसुम-कली की तरह कोमल होने की साध होती है। अपने मन की बात मैं समझा नहीं सकती; पर किसी कवि ने कहा है:—

"जहँ-जहँ अरुण चरण चलि जाता,
तहँ-तहँ धरनि होय मम गाता।"

अरुण चरण ऐसी कठोर धरती पर क्यों चलते हैं? किन्तु यदि न चलते तो शायद कहीं भी हरी हरी घास पैदा न होती।

प्रतिदिन नियमित रूप से जो मेरे ऊपर चलते हैं उन्हें मैं अच्छी तरह पहचानती हूँ। पर वे नहीं जानते कि उनके लिए मैं कितनी प्रतीक्षा किया करती हूं। मैं मन ही मन उनकी मूर्ति की कल्पना कर लेती हूं। बहुत दिन हुए ऐसी ही एक प्रतिमा अपने कोमल चरणों को लेकर दोपहर को बहुत दूर से आती, छोटे-छोटे दो नूपुर रुनझुन-रुनझुन करके उसके पांवों में रो-रोकर बजते रहते। शायद उसके ओठ बोलने के ओठ न थे, शायद उसकी बड़ी-बड़ी आंखें संध्या के आकाश की भांति म्लान दृष्टि से किसी के मुँह की ओर देखती रहतीं। उस चबूतरे वाले वट-वृक्ष के बाईं तरफ, जहां मेरी एक शाखा

गाँव की ओर चली गई है वहां, पेड़ के नीचे वह हारी थकी चुपचाप खड़ी रहती। और दूसरा एक कोई अपना दिन-भर का काम पूरा करके अनमने मन से गाना गाता हुआ उसके सामने से गाँव की ओर चला जाता। शायद वह किसी की ओर देखता न था, कहीं भी ठहरता न था, और सीधा घर के द्वार पर जाकर अपना पुरबी गीत खतम करता था। उसके चले जाने पर वह बालिका अपने थके हुए पैरों से फिर उसी रास्ते से लौट जाती जिससे वह आई थी। बालिका जब लौटती तब मालूम होता कि अन्धकार हो आया है। सन्ध्या के अन्धकार का ठण्डा स्पर्श मैं अपने अंग-प्रत्यंगों पर पूरी तरह अनुभव करने लगती। जब गोधूलि के समय की कौओं की काँव-काँव बिलकुल थम जाती; पथिकों का आना-जाना करीब-करीब बन्द सा हो जाता। सन्ध्या की हवा के झोंकों से बांस के झाड़ रह-रहकर झरझर-झरझर शब्द कर उठते। उसी तरह प्रतिदिन वह अत्यन्त मंद गति से आती और वैसे ही धीरे-धीरे चली जाती। एक दिन, फागुन के अन्त के दिनों में, दुपहर को जब आम के बौर हवा से झड़ रहे थे। वह दूसरा जो आता था वह न आया। उस दिन बहुत रात बीते बालिका घर लौट गई। जैसे अभी बीच-बीच में पेड़ों से सूखे पत्ते झड़ रहे हैं वैसे ही कभी-कभी दो-एक बूँद आंसू मेरी नीरस गरम धूल पर पड़ते और सूख जाते थे। फिर, उसके दूसरे ही दिन दुपहर को वह बालिका उसी पेड़ के नीचे आकर खड़ी हुई, पर उस दिन भी वह न आया। फिर रात को वह धीरे-धीरे घर की तरफ चल दी। कुछ दूर जाकर उससे चला न गया, मेरे ऊपर धूल में लोट गई बेचारी; और दोनों हाथों से मुँह ढककर छाती फाड़-फाड़ कर रोने लगी।

कौन हो बिटिया? क्या इस निर्जन रात्रि में भी कहीं कोई मेरी छाती पर विश्राम लेने आता है। तू जिसके पास से लौटी है क्या वह मुझसे भी कठोर है? तूने जिसे पुकार-पुकार कर कोई जवाब नहीं

पाथ, क्या वह मुझसे भी बढ़कर गूंगा है ? तूने जिसकी तरफ देखा है क्या वह मुझसे भी ज्यादा अन्धा ?

बालिका उठ बैठी, खड़ी हो गई, आंखें पोंछ डालीं और फिर मुझे छोड़कर चली गई। शायद वह घर लौट गई, शायद वह अब भी शान्त मुख से घर का काम धन्धा करती होगी, शायद वह किसी से भी अपने दुख की बात नहीं करती होगी। हां, किसी-किसी दिन वह संध्या समय घर के आंगन में चन्द्रमा की चांदनी में पैर फैलाये बैठी दिखाई देती है; उस वक्त कोई बुलाता तो वह चौंक पड़ती; और झट उठकर भीतर चली जाती। पर मैंने उसके दूसरे आजतक कभी उसके चरणों का स्पर्श नहीं किया।

ऐसे कितने ही पावों के शब्द नीरव हो गये हैं। मैं क्या उनकी याद रख सकती हूँ ? सिर्फ उन पावों की करुण नूपुर ध्वनि अब भी कभी-कभी याद आ जाती है। पर मुझे क्या घड़ी भर भी शोक या संताप करने की छुट्टी मिलती है ? शोक किस-किस के लिए करें ? ऐसे कितने ही आते हैं और चले जाते हैं।

उफ, कैसी कड़ी घाम है ! एक-एक बार साँस छोड़ती हूं और तपी हुई धूल सुनील आकाश को धुआँधार करके उड़ी चली जाती है। अमीर और गरीब, सुखी और दुखी, यौवन और बुढ़ापा, हँसी और रोना, जन्म और मृत्यु सब कुछ मेरे ऊपर एक ही सांस में धूल के स्रोत की तरह उड़ता चला जा रहा है। इसलिए सड़क के न हँसी है न रोना। घर ही बीते हुए पर शोक करता, वर्तमान के लिए सोचता है, भविष्य के लिए आशा में डूबा रहता है। पर सड़क ? वह तो वर्तमान के प्रत्येक पल में हजारों-लाखों नये-नये अतिथियों को लेकर ही व्यस्त रहती है। ऐसे स्थान पर अपने पद-गौरव पर विश्वास करके, अत्यंत दर्प के साथ पैर रखता हुआ कौन अपने चिरचरण-चिह्न रख जाने का प्रयास करता है ? जिनके लिये यहां की हवा में तुम दीर्घ-निःश्वास छोड़ जाते हो, तुम्हारे चले जाने पर क्या वे तुम्हारे

लिए विलाप करते रहेंगे। तुम्हारे वे दीर्घ-निश्वास नये अतिथियों की आंखों में आंसू खींच लायेंगे? हवा पर हवा क्या टिक सकती है? नहीं, नहीं, व्यर्थ की कोशिश है। मैं अपने ऊपर कुछ भी पड़ा रहने नहीं देती; न हँसी, न रोना। सिर्फ मैं ही अकेली पड़ी हुई हूँ; और पड़ी रहूँगी।

काम, मौत और बीमारी

लिओ टाल्सटाय

भारत के आदिम लोगों में एक कथा प्रचलित है—

कहते हैं कि भगवान् ने पहले-पहल आदमी बनाया तो ऐसा बनाया था कि उसे काम-धाम की ज़रूरत नहीं थी। न रहने को मकान चाहिए था, न पहनने को कपड़े। तन यों ही पलता था और सबकी सौ बरस की उमर होती थी। और रोग-शोक किसी को पता न था।

कुछ काल बाद भगवान् ने अपनी सृष्टि की ओर मुँह फेरकर देखा कि उसका क्या हाल है? देखते क्या हैं कोई अपने जीवन से खुश नहीं है और वहां कलह मची हुई है। सबको अपनी-अपनी लगी है और हालत ऐसी बना डाली है कि जीवन आनन्द के बदले क्लेश का मूल हो रहा।

ईश्वर ने सोचा कि वह बात इसलिए हुई कि सब अलग-अलग अपने-अपने लिए रहते हैं।

इससे हालत बदलने के लिए ईश्वर ने एक काम किया। ऐसा बन्दोबस्त कर दिया कि काम बिना जीवन संभव ही न रहे। सर्दी के दुख से बचने के लिए रहने को जगह बनानी पड़े—चाहे खोदकर गुफा बनाओ, चाहे चिनकर मकान खड़े करो। और भूख मिटाने के लिए फल या अनाज बोना-उगाना और काटना पड़े।

ईश्वर ने सोचा कि काम से उनमें संघ पैदा होगा और वे सम्मिलित बनेंगे। उन्हें औज़ार बनाने पड़ेंगे। यहाँ से वहाँ तैयार माल ले जाना होगा। मकान बनायेंगे। खेत जोतें और अनाज बोयेंगे। कात-बुनकर कपड़ा बनायेंगे और इनमें कोई काम एक अकेले हो न सकेगा।

तब उन्हें समझ आजायगा कि जितने एक मन से साथ होकर वे काम करेंगे उतनी ही बढ़वारी होगी और जीवन फले-फूलेगा। यह बात उनमें एका ले आयेगी और सबकी ऐसे बरकत होगी।

कुछ काल बीता और भगवान् ने फिर सृष्टि की ओर ध्यान दिया कि अब क्या हाल है? अब लोग पहले से चैन से तो हैं न।

लेकिन देखने में आया कि हालत पहले से खराब है। काम तो साथ करते हैं। (क्योंकि और कुछ वश ही नहीं है) पर सब साथ नहीं होते। उनमें दल-वर्ग बन गये हैं। वे अलग-अलग वर्ग एक-दूसरे से काम के लिए छीना-झपटी करते हैं और एक दूसरे की राह में रोक बनते हैं। इस खींच-तान में समय और शक्ति बरबाद जाती है। सो सबकी हालत बिगड़ी है और दिन-दिन बिगड़ती जाती है।

भगवान् ने सोचा कि यह भी ठीक नहीं हुआ। अब ऐसा करें कि आदमी को अपनी मौत का कुछ पता न रहे। उसके जाने किसी घड़ी वह आ जाय। आयु उसकी निश्चित न रहे। ऐसे आदमी आप सँभल जायगा।

सो इसी प्रकार की व्यवस्था भगवान् ने करदी। उन्होंने सोचा कि मौत का ठीक-ठिकाना आदमी को नहीं रहेगा तो एक दूसरे से छीन-झपटी भी वह नहीं करेंगे। उन्हें खयाल होगा कि जाने कै घड़ी की ज़िन्दगी है, सो ऐसे ज़िन्दगी के थोड़े से क्षणों को चलो, क्यों नाहक हम बिगाड़ें?

लेकिन बात उलटी हुई। भगवान् जब फिर अपनी सृष्टि को देखने आये तो क्या देखते हैं कि वहाँ तो जीवन पहले से, बल्कि

उससे भी ज्यादा खराब है।

जो बलवान थे उन्होंने यह देखकर कि आदमी तो चाहे जब मर सकता है, कमज़ोरों को मौत दिखाकर बस कर लिया है। कुछ को मार दिया, औरों को उसके डर से ही डरा लिया। होते-होते यह होने लगा कि वे ताकतवर लोग और उनकी सन्तान काम से जी चुराने लगीं। उन्हें समय काटना ही सवाल होगया और अपना आलस बहलाने के नाना उपाय वे करने लगे और जो कमज़ोर थे उन्हें इतना काम करना पड़ने लगा कि दम मारने की फ़ुर्सत न मिलती। ऐसे दोनों तरह के लोग एक-दूसरे से खार खाते थे और बचते और डरते थे। दोनों दुखी थे और आदमी का जीवन पहले से गया-बीता और दूभर होता जाता था।

यह देखकर ईश्वर ने सुधार की एक तदबीर की। सोचा कि यह उपाय पक्का होगा। बहुत सोच-समझकर भगवान् ने आदमी के बीच तरह तरह की बीमारियाँ भेज दीं। सोचा कि हरेक के सिर पर जब बीमारियाँ खेलती रहा करेंगी तो जो अच्छे होंगे, वे बीमार पर और दुर्बल पर दया करेंगे और सहायता करेंगे, क्योंकि जाने वे खुद बीमारी में कब न फँस जायँ। वे औरों पर दया करेंगे तभी अपने लिए दया की आस उन्हें हो सकेगी।

यह इन्तज़ाम करके भगवान् निश्चिन्त हुए। लेकिन फिर जो अपनी उस सृष्टि को देखने वह आयें जिसमें अपनी करुणा में उन्होंने बीमारियों का दान दिया था, तो देखते हैं कि आदमी की हालत बद से बदतर है। उनकी भेजी बीमारियों से वह मिलना तो क्या, उलटे आपस में और भी फटने-बँटने लगे हैं। ताकतवर लोग अपनी बीमारी में; कमज़ोरों से और भी मेहनत कराने और अपनी सेवा लेने लगे हैं। लेकिन खुद जब वे सेवक बीमार पड़ते हैं तो उन्हें पूछते भी नहीं हैं। और जिन्हें इस तरह खूब काम में जोता जाता और बीमारी में सेवा ली जाती है, वे ख़िदमत करते-करते थकान से ऐसे चूर हो जाते हैं कि

कि बीमारी में अपनी या अपनों की कोई मदद नहीं कर सकते, और बस भाग-भरोसे हो रहते हैं। तिस पर धनी आदमियों ने इन गरीब लोगों के लिए खैराती अस्पताल वगैरह खड़े कर दिये हैं कि जिससे उनकी अपनी मौज में विघ्न न पड़े और गरीब दूर ही दूर रहें। वहाँ अस्पताल में गरीब बेचारे अपने सगे-स्नेहियों की सेवा से दूर हो जाते हैं कि जिससे थोड़ा ढारस उन्हें पहुँच सकता था। फिर वहाँ ऐसे किराये के आदमियों और नर्सों के पल्ले वे पड़ते हैं कि जो बिना किसी दया-ममता के बल्कि कभी तो झोंक और तिरस्कार के साथ, दवा उनके गले उतार दिया करते हैं। तिसपर कुछ बीमारियों को छूत की मान लिया जाता है, और कहीं वह लग न जाय, इस डर से बीमारों से बचा जाता है और जो बीमार के पास रहते हैं उनतक से दूर रहा जाता है।

यह देख भगवान् ने मन में कहा कि अगर ऐसे भी इन लोगों को यह समझ नहीं आता है कि इनका सुख किसमें है तो फिर दुख ही उन्हें मिलने दो। दुख भोगकर ही वे समझेंगे। यह सोच भगवान् ने उन्हें उन पर छोड़ दिया।

इस तरह आदमी को आज़ाद हुए मुद्दत बीत गई कि अब कहीं कुछ उनमें से समझे हैं कि कैसे व प्रसन्न रह सकते हैं और रहना चाहिए। काम कुछ के लिए हौआ हो और दूसरों के लिए नित का कोल्हू, यह ठीक नहीं है। बल्कि काम से तो सब मिल जुलकर आपस में हेल मेल और खुशी के साथ रहना सीखने की सुगमता होनी चाहिए। सिर पर जब मौत अड़ी खड़ी है और किसी पल भी वह आ सकती है तो वैसे हालत में आदमी के लिए समझदारी का काम यही हो सकता है कि वह अपनी आयु के क्षण, छिन-पल और वर्ष प्रीति, सेवा और भक्ति में बिताये। अब कहीं कुछ समझने लगे हैं कि बीमारी एकसे एकको हटाने को नहीं है, बल्कि एक-दूसरे को प्रेम के और सेवा के सूत्र में पास लाने के लिए मिली है।

दो मस्जिदें

जवाहरलाल नेहरू

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ मज़हबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक-दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज़-हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी और न इसकी जांच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है, लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फ़ाकेमस्ती को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर दूसरी मस्जिद की तरफ जा पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न

जाने कितनी बातें देखी हैं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखे, और हर क्रान्ति और परिवर्तन पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफान को इस आलीशान ईमारत ने बर्दाश्त किया, बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा, मिट्टी ने उसके बाज़ हिस्सों को ढंका, बुज़ुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से ; ; । मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया भर का तजरबा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे ज़माने तक के खेलों और तूफानों को बर्दाश्त करना कठिन था, लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मजहब उठे और बैठे, बड़े-बड़े बादशाह, खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायब हो गए। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी, और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे, लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फरेब और बेवकूफी? हजारों वर्षों में उन्होंने कितना कम सीखा। कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरोप को जहाँ अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भांति बासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइजेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी, लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर

अकसर हमले होते थे। रोम को शक्ति कुछ कम हो रही थी और वह दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट कान्सटेण्टाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर से हटा दी जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइ-जेन्टियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कान्सटेन्टिनोपल (कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जरूर मजबूत हो गया, लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए, एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खत्म कर दिया, लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजेन्टाइन के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट कान्सटेण्टाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली, बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। उनमें से जो रोम के देवताओं को नहीं पूजता था या सम्राट की मूर्त्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन-आसमान का फर्क हो गया। सम्राट स्वयं ईसाई हो गया और

ईसाई धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं को पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट फिर ऐसा हुआ (जूलियन), जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं का उपासक बन गया; परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जङ्गल की शरण ले लेनी पड़ी और वहां से भी वे धीरे-धीरे गायब हो गए।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहां की इमारतें एक नई तर्ज़ की बनीं, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियां, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज़ के थे और जिसके अन्दर खम्भों वगैरा पर बारीक मोजाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती बाइजेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान कैथीड्रल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया, जो सैंक्टा सोफिया या सेंट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह अद्वितीय बने और अपनी शान और ऊंचे दर्जे की कला में सम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई और यह गिरजा अबतक बाइजेन्टाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुये (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है) और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना और

वहां का ईसाई फिरका अलग हो गया। यह फिरका आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था, क्योंकि वहां की बोली ग्रीक हो गई थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आस-पास भी फैला था।

सेण्ट सोफिया का कैथीड्रल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था और नौ सौ वर्ष तक ऐसा ही रहा। बीच में एक दफा रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े और उस पर उन्होंने कब्जा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेण्ट सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहां का जो सबसे बड़ा ईसाई कैथीड्रल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद हो गई। सेंट सोफिया का नाम 'आया सुफीया' हो गया। उसकी यह नई जिन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की। एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े मनसूबे गांठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसी खुली बन्दरगाह नहीं थी, जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके। इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी दृष्टि से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के ज़ार (सम्राट) अपने को पूर्वीय रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट सोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित

गिरजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्धचन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में ज़ारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा तब यूरोप की और शक्तियां घबराईं। इंग्लैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, रूस कुछ रुका; लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनैतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १६१४ की बड़ी लड़ाई आरंभ हुई और उसमें इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊंचे सिद्धान्त रखे गए आज़ादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के, लेकिन पर्दे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तजार में उसके बंटवारे के मनसूबे निश्चित किये गए।

पर ये मनसूबे भी पूरे न हुए। उस लाश के मिलने के पहले ज़ारों का रूस ही खत्म हो गया। वहां क्रांति हुई और हकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि ये यूरोप की बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार जमाना नहीं चाहते। हरेक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हकूमत नालायक है तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकारी के हाथ धो बैठें। उन्होंने, खासकर अंग्रेजों ने, कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया। ४६५ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हकूमत इस्लामी हाथों से निकल कर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान खलीफा जरूर मौजूद थे,

लेकिन वह एक गुड्डे की भांति थे। जिधर मोड़ दिये जायं, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी वैसे ही खड़ी थी और मस्जिद थी, लेकिन उसकी वह शान कहां, जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढ़ने जाते थे।

सुलतान ने सर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की, लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उसमें से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन मिली और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था और तुर्की तो मौजूद ही थी। अब रूस मुकाबले से हट गया और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंग्लैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमाल-पाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाल दिया। उसने सुलतान खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किए। स्त्रियों को परदे से बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपन को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार

दिया। डेढ़ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंकारा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर लेकिन तुर्की की नई शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफीया? उसका क्या हश्र हुआ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत—इस्ताम्बूल में खड़ी है। और जिन्दगी के ऊंच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और और अनेक सुगन्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज उसके कानों में आई और नमाज पढ़ने वालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है—इसी साल १६३५ में—गाजी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सुफीया मस्जिद नहीं रही। बगैर किसी धूमधाम के वहां के होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वगैरह) हटा दिये गए और अन्य मस्जिदों में भेज दिये गए। अब यह तय हुआ कि आया सुफीया बजाय मस्जिद के म्यूजियम (संग्रहालय) हो—खासकर बाइजेन्टाइन कलाओं का। बाइजेन्टाइन जमाना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेन्टाइन कला खत्म हो गई। इसलिए अब आया सुफीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफा कमाल के हुक्म से।

आजकल वहां जोरों से खुदाई हो रही है। जहां-जहां मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है और पुराने मोजाइक्स निकल रहे हैं। बाइजेन्टाइन कला के जानने-वाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गए हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की

तख्ती लटकती है और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाणां-कड़ी दीजिए, उसका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिए। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए, अपने दिमाग को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए। क्या-क्या तस्वीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या जुल्म, क्या-क्या अत्या-चार आपके सामने आते हैं। उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुजर गए, उन पर गौर करने से हम आज को समझें, शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में। दुनिया बदलती रही, लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हलकी मुस्कराहट-सी मालूम होती है और धीमी आवाज-सी कानों में आती है—"इन्सान भी कितना बेव-कूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता जाता है।"

अगस्त १६३५

सचाई के गुर

भगवानदीन

सुख-दुःख बाहर कहीं नहीं है। हमारे सिवा हमको कोई दूसरा न सुखी कर सकता है, न दुःखी! समझने के लिए यों मान लीजिए कि हमारे अन्दर दो बक्स रखे हुए हैं। एक सुख का, दूसरा दुःख का। न मालूम क्यों कुछ लोगों को दुःख का बक्स खुला रखने की आदत पड़ गई है। दुःख का बक्स खुला रखते-रखते हम यह समझने लग गए हैं कि सुख का बक्स हमारे पास है ही नहीं और फिर औरों के बतलाने पर यह नहीं मानते कि हमारे अन्दर सुख का बक्स भी मौजूद है और यह कि हम अपने आप सुखी भी हो सकते हैं। बहुत सुनाने और समझाने पर जब हमको औरों की बात माननी ही पड़ती है तब हम दूसरा बक्स खोलने की कोशिश करते हैं और एकाध बार इसे खोलने में सफल भी हो जाते हैं। तब भी अपनी आदत से मजबूर फिर उसको बन्द कर देते हैं और अपना दुःख का बक्स फिर खोल बैठते हैं। अभ्यासवश इसे बन्द करने की याद ही नहीं रहती और यों दुःख या कभी सुख और ज्यादा दुःख के चक्कर में पड़ कर अपनी तरक्की की चाल को बिलकुल बन्द कर देते हैं, या बहुत मन्द कर देते हैं।

सुख-दुःख बाहर न होते हुए भी इतनी बात ज़रूर है कि बाहरी

मामलों की वजह से ही हमारे बक्स खुलते और बन्द होते हैं। कौन बातें कौन बक्स खोलती है और कितनी देर खुला रखती हैं, इसका हिसाब रखने से दोनों बक्सों पर हमारा पूरा अधिकार हो जायगा। एक तरह से यों हम दुःख से बच ही जायंगे। हिसाब के बाद आंकड़ा यों मिलाना होगा।

भला या बुरा कोई भी काम जब तुम शुरू करते हो तो दो तरह की बातें तुम्हारे सामने आया करती हैं; एक हिम्मत घटाने वाली और दूसरी हिम्मत बढ़ाने वाली। पहली बुरी लगती है, दूसरी भली।

सन् १९१० में मुझे गुरुकुल खोलने की धुन सवार हुई। कुछ ही दिन बाद वह लगन बन बैठी। अब क्या था! अन्तरात्मा बोलने लगा। ऐसा हमेशा ही होता है, हर एक के साथ होता है, यानी लगन लगी और अन्तरात्मा जागा। इसी अन्तरात्मा ने बताया, जो कहे गुरुकुल खोलना बुरा, गुरुकुल खोलना मूर्खता, उसकी सुनना ही नहीं। और जो कहे गुरुकुल खोलना भला, उसका खोलना बुद्धिमानी, उसके लिए यही उपयुक्त समय है, उसके पास रहना और घण्टों रहना, हफ्तों रहना, उसकी खूब सुनना समझना, पर करना अपनी। अन्तरात्मा की आज्ञा मानी ही गई और मैं काम में भी लग गया। दुःख पास भी फटका। ११ नवम्बर सन् १९१० को लगन लगी और ११ मई सन् १९११ में गुरुकुल खुल गया। ठीक खुलने से पहले बड़ी विपत्तियां आईं और अन्तरात्मा के बताए मन्त्र से पलक मारते टल गईं।

गुरुकुल खोलने की बात बुरी थी, गलत थी, मगर सिर्फ मेरे लिए जिनकी यह राय थी, उनके लिए वह भली ही थी। वे सब मेरे भले के लिए ही सलाह देना चाहते थे। वे मुझे एक तरह से कष्टों से बचाना ही चाहते थे। जो भी हमें काम करने से रोकते हैं, वे हमारे दुश्मन ही होते हैं, ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए।

ठीक ऐसी ही कठिनाइयाँ तुम्हारे सामने आवेंगी। उस समय तुम सबों को खोटी-खरी न सुनाना। अपनी बात से हटना भी नहीं।

तुम अपना समय उनको समझाने में न खोना, जो तुम्हारे काम को ठीक नहीं समझते। तुम अपने वक्त का सदुपयोग करना उनको समझाने में, जो तुम्हारे काम को ठीक समझते हैं और इसी तरह अपने तरफदारों की तादाद बढ़ाए जाना। ना-तरफदारों की गिनती अपने आप ही कम होती जायगी। ना-तरफदारों को तुम मत छेड़ो, वे तुम्हें नहीं छेड़ेंगे। इस सुख-दुःख के आंकड़े मिलाने का सबक़ भी तुमको घर से ही सीखना होगा। अगर तुम यह चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे तुमको काम करते हुए न छेड़ें तो तुम भी उनको खेल खेलते न छेड़ो। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी स्त्री तुम्हें तुम्हारे दोस्तों के सामने हल्की बात न कह बैठे तो तुम उससे उसकी सहेलियों के सामने ऐसी बात कह बैठने की भूल न करो।

घरेलू आंकड़े बनाते-बनाते सामाजिक आंकड़े बनाने में तुम अभ्यस्त हो जाओगे और इस तरह सुख-दुःख पर बहुत दर्जे तक काबू पा जाओगे।

कुछ लोग सोचने को काम समझते हैं। सोचना काम तो नहीं, हां काम का हिस्सा समझा जा सकता है। पर वह भी तब, जब सोचने वाले ने हाथ-पांव हिलाकर कुछ कर दिखाया हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह सोचना न काम का है और न काम का हिस्सा। ऐसे सोच-विचार का नाम है निठल्लापन। आंकड़े में इस काम में लगा वक्त दाईं ओर, यानी खर्च के नाम ही डाला जायगा और वह भी बट्टे-खाते।

तुम्हारे बक्स का ताला बन्द है। उसकी ताली खो गई है। उसके खोलने की तरकीबें घण्टों, दिनों, हफ्तों, महीनों, सोचकर भी तुम ताला नहीं खोल सकते। पर एक कील लेकर ताले के सूराख में डालकर अजजूपने से इधर-उधर हिलाकर, सम्भव है, कुछ देर में तुम उसे खोलने में सफल हो जाओ। जो कहीं तुम्हारा मन भी इधर हो और थोड़ी-सी बुद्धि को भी कष्ट दो तो और भी जल्दी उसे खोल

सकते हो। बड़ी-बड़ी ईजादों की जड़ में तुमको मिलेगा केवल लगे रहना और केवल काम में लगे रहना। एक सफल उपन्यास-लेखक से पूछा गया, "तुम उपन्यास-सम्राट् कैसे हो गये?" उसने जवाब दिया, "एक दिन भी लिखने को नागा न करने से।" मुलायम रस्सी पत्थर में निशान कर देती है, तुच्छ बूँदें शिला पर गड़हा खोद देती हैं। यह उदास हृदयों को उकसाने के लिए कोरी कल्पनाएँ ही नहीं हैं, सचाई के ठोस गुर हैं। एक साल काम का और निठल्लेपन का आँकड़ा मिला-कर देखो तो। अगर बाईं तरफ की रकम दाईं तरफ से ज्यादा है तो तुमने जरूर कुछ ऐसा काम कर डाला है, जो न सिर्फ तुम्हारे कुटुम्ब के लिए, तुम्हारे समाज के लिए और तुम्हारे देश के लिए उपयोगी है।

सोचना और सोचना ही सोचना, खाली बैठना है। काम करना और काम किए ही जाना काम करना है। काम करते जो सोचा जाय, उसका नाम भी काम है। काम करते हुए के सोचविचार का नाम है—'सिर का काम', जिसे अंग्रेजी में ब्रेन वर्क (Brain Work) कहते हैं। यह सिर का काम हाथ के काम से चौगुना कर देता है। तभी तो इसको काम का नाम मिला है। कोरे सोचने से काम की चाल धीमी ही नहीं पड़ती, रुक जाती है और वह काम के पुरजों में जंग लगा कर उन्हें हमेशा के लिए बेकार कर देती है। पढ़ना काम नहीं है, निठल्ला-पन है। हां, वह पढ़ना काम है, जो किसी काम के लिए पढ़ा जाय। काम में लगे-लगे अगर कायरता आ दबाए तो गीता पढ़ना काम समझा जायगा? रोज उसका शुरू से लेकर आखिर तक पढ़ जाना निठल्लापन नाम पायगा। बे-मतलब अख़बारों का पढ़ना निठल्लापन है। निठल्लापन ही नहीं, नशा है, लत है, बीमारी है। हां, एक व्या-पारी अपनी चीजों के भाव जानने के लिए अखबार ख़रीदता और पढ़ता है। वह सचमुच काम करता है और कुछ खोकर भी कमाता है। हिन्दुस्तान में ख़बरों के अखबार हैं, समाचारों के समाचार-पत्र हैं; मानो बेकारों के कार हैं काम-पत्र, यानी काम के पत्र हैं ही नहीं।

आजकल सब सरकारी गज़ट बने हुए हैं। इससे पहले कुछ को छोड़ सभी धनवानों की भाटगीरी का काम करते थे, या दूकानदारों की कनवैसरी का। इनको पढ़ना काम कैसे हो सकता है? इस आंकड़े में पूरे सतर्क रहने के लिए हीं ऊपर की लकीरें लिखी गई हैं। इनकी मदद से आंकड़े में कौन रकम किधर लिखी जानी चाहिए, इस काम में मदद मिलेगी।

निराश हुए और गए। उम्मीद सहारा है, उम्मीद ही जीवन है, निराशा मौत है। उम्मीद श्रद्धा की बहन है और सदा साथ रहने वाली बहन है। उम्मीद है तो काम करने का बल है और काम करने का बल है, तो जय मिलेगी ही। जय इत्र है और इत्र परिश्रम के फूलों का। इत्र मनों फूलोंसे तोलों ही मिलता है। पर इत्र का तोला फूल के मन से ज्यादा मूल्यवान होता है। बहुत मेहनत से ही जय मिलती है। जय परिश्रम के दुःख को भुला देती है और उससे कहीं ज्यादा प्यारी लगती है। परिश्रम-इंजन की उम्मीद भाप है। परिश्रम देह की श्वास-श्वास है। किसी ने ठीक कहा है: 'जब तक आशा तब तक श्वासा।' आशा में तकलीफ़ भले ही हो, मौत नहीं है। जय में सुख है, आनन्द है, पर उस सुख और आनन्द में मौत का काँटा छिपा रहता है। कौन नहीं जानता, अपने बेटे के देखने के लिए बीमारी के बिस्तर पर पड़ी ज्यों-त्यों दम-जुगाती माँ उसे देखकर दम तोड़ देती है। आशा और जय में यही तो अन्तर है। इच्छा और इच्छापूर्ति में यही तो फ़र्क़ है। जय में कभी-कभी आशा का अन्त हो जाता है और इसलिए मौत आ धमकती है। झूठी नकली जय भी कभी-कभी जय मान ली जाती है और इस तरह आशा का अंत हो जाने से जो चीज़ मिलती है, वह होती है हार, असफलता, ना-कामयाबी।

इसलिए आशा और निराशा का खाता रखना बहुत ज़रूरी है। आशा की पूंजी बढ़ाने में यह जानकारी बड़ी मदद देती है कि

परिश्रम किए जाने का फल होता ही है और बहुत मीठा होता है। घण्टों दही बिलोने पर मक्खन निकलता है। वर्षों पानी देने पर आम के पेड़ से फल मिलते हैं। लाखों मन पत्थर जैसी कड़ी मिट्टी काटने पर हीरे की एक कनी नसीब होती है।

पर यह कनी हजारों मजदूरों की मजदूरी चुकाकर वर्षों बैठे-बैठे उनको खाना भी दे सकती है, अगर वह कनी उन मजदूरों को ही दे दी जाय।

इस साधारण ज्ञान के बल पर, जवानो, आशा की पूंजी बढ़ाते हुए ही तुम सुखी रह सकते हो और इस कांटों से भरी ज़मीन को फूलों की सेज बना सकते हो। इन आंकड़ों को रोज-के-रोज मिलाने पर तुम्हारा चेहरा चमक उठेगा, तुम्हारे मुंह से फूल झड़ने लगेंगे, तुम्हारी आँखें जगमगाने लगेंगी। वक्त के असर से तुम बचे रहोगे। बालकों जैसी उछल-कूद और चपलता तुममें बनी रहेगी और तुम मनचाही मौत पा सकोगे।

एक ग्रामीण मुसलमान बूढ़ी तजुर्बेकार औरत से किसी हिन्दू नव-यौवना ने पूछा, "अम्मा, तुम्हारे अभी कितने रोज़े और बाकी हैं?" वह हँसते हुए चेहरे से बिना प्रयास बोल पड़ी: "गए बिचारे रोजड़े, रह गए नौ औ बीस।" यह वह जानती है कि तीस रोज़ों में से अभी उन्तीस बाकी हैं, पर इसका जिक्र वह पूछने पर ही करती है और इस तरह करती है, मानों वह उन्तीस उस एक के मुकाबिले में कुछ भी नहीं हैं, जिसे वह पूरा कर चुकी है। इस तरह वह 'हो चुका' का पल्ला 'होने को है' पल्ले से सदा भारी रखती है। तभी तो हर वक्त उसके चेहरे पर हँसी खेलती रहती है। दुनिया बन रही है, बिगड़ नहीं रही है।

कितना बनना बाकी है, उसकी तरफ नजर डाली और तुम गिरे सोच की गहरी खाई में। चाहे उसमें डूबो नहीं, पर वहां से निकलना आसान नहीं। आदर्श या वह जगह जहां हमें पहुँचना है, कितनी दूर

है, यह मत सोचो। सोचो यह कि तुम आदर्श की ओर कितना बढ़ चुके हो। दूसरों से झगड़ बैठने में हमारे 'हो चुका' के खाते की कमी ही कारण हुआ करती है। जिनका 'होने को है' का खाता बहुत होता है, वह चिड़चिड़े मिजाज़ के होते हैं। हर किसी से उलझ बैठते हैं। इस उलझन में उलझकर न खुद आगे बढ़ पाते हैं और न अपने रिश्तेदारों, भाइयों को आगे बढ़ने देते हैं। बूढ़े बाप अपने दुधमुंहे बच्चों से चाहते हैं कि वे उनकी तरह रहे-सहें और जब वे वैसा नहीं करते तो आपे से बाहर हो वे उन पर बरस पड़ते हैं। बूढ़ी माताएँ अपनी नन्ही-नन्हीं बच्चियों की उछल-कूद, धौल-धप्पड़, तोड़-फोड़, लूट-खसोट, छीन-झपटी देखकर ऐसी नाक-भौं सिकोड़ती हैं कि कहते नहीं बनता। वे चाहती हैं कि वे नन्हीं रहती हुई ही उन जैसी बूढ़ी बन जायं। हां, वे बूढ़े-बुढ़िया खुश मिलेंगे, जो यह देखकर खुश होते हैं कि हमारे तीन वर्ष के बच्चे वे बातें नहीं करते, जो वे तब करते थे, जब दो वर्ष के थे, या एक वर्ष के थे। अहा! अब तो वे घुटनों न चलकर, खड़े होकर एक-एक कदम चलना सीख गए हैं। अहा! अब तो वे चम्मच से ले-लेकर दूध पीना सीख गए हैं। अहा! अब तो वे छोटे-छोटे वाक्यों को बोलना सीख गए हैं।

यशोदा और नन्द की कथा वे जरूर सुनते हैं। माखन-चोर कृष्ण पर अपनी ख़याली दुनिया में उन दोनों को अपना अनाप-शनाप प्यार उंडेलते भी देखते हैं। उन कथाओं में मस्त होकर आनन्द-रस-पान भी करते हैं, पर घर आकर वे ही इस बीसवीं शताब्दी के बुड्ढे-बुढ़िया बन जाते हैं।

जवानो! अपना 'हो चुका' खाता संभालो। 'होने को है' के नाम अपने कीमती वक्त की रकमें लिखना छोड़ो। सुखी होने का यही उपाय है। तरक्की के कांटों से बचकर चलने में ही भला है। उन्हें उठाकर फेंक डालना ही धर्म है।

मिलनसारी

बंकिमचन्द्र

मनुष्य को अपना स्वभाव सात्विक बनाने के उपरान्त दूसरी आवश्यकता उसे प्रेम-पूर्ण और मिलनसार बनाने की होती है। जिस मनुष्य का हृदय प्रेम-पूर्ण न हो उसे बहुत-से अंशों में मनुष्य ही न मानना चाहिए। प्रायः सभी धर्मों में प्रेम को परम धर्म और मानव-जीवन का सार माना है। यह प्रेम मनुष्य के दुःखों को घटाने और सुखों को बढ़ाने में बड़ा भारी सहायक होता है। जिस मनुष्य में प्रेम की मात्रा जितनी ही अधिक होगी वह संसार की विपत्तियों से भी उतना ही अधिक बचा रहेगा। इसके अतिरिक्त मन को निर्मल और सात्विक बनाने के लिए भी प्रेम की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है।

प्रेम की सहायता से मनुष्य अपना मन भी पवित्र रख सकता है और दूसरों का मन भी पवित्र और निर्मल कर सकता है। एक विद्वान् का मत है कि प्रेम से कोमलता, सुख, शान्ति, समता और सद्भाव आदि अनेक गुणों की उत्पत्ति होती है और इसी की सहायता से मनुष्य बुरी बातों का त्याग करके अच्छी बातें स्वीकार करता है। प्रेम हमारे सच्चे मित्रों और सहायकों की संख्या बढ़ाकर हमारे मार्ग के समस्त कण्टकों को दूर करता है। केवल सुविचार से ही मनुष्यों में कभी सद्गुणों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हमारा हृदय क्षेत्र है, सुविचार

बीज है, प्रेम वह अमृत है जिससे क्षेत्र सींचा जाता है और सद्गुण उस क्षेत्र में होने वाले फल हैं। जब तक हमारा हृदय प्रेमामृत से सींचा न जायगा तब तक उसमें कभी सद्गुण उत्पन्न ही न होगा। उपदेश है कि यदि हमें ईश्वर से कुछ मांगना हो तो सदा प्रेम की भिक्षा ही मांगनी चाहिए।

प्रेम एक ऐसी अलौकिक शक्ति है जिससे मनुष्य को अनन्त लाभ होते हैं। प्रेम से मानसिक विकार दूर होते हैं, विचारों में कोमलता आती है, सद्गुणों की सृष्टि होती है, दुखों का नाश और सुखों की वृद्धि होती है और यहां तक कि मनुष्य की आयु भी बढ़ती है। जो मनुष्य अपने हृदय से प्रेम-भाव निकाल देता है, वह मानों अपने जीवन का सर्वोत्तम अंश नष्ट कर देता है। प्रेम ही मनुष्य को साहसी, धीर और सहनशील बनाता है। केवल प्रेम के बल पर ही कोमल स्त्रियों ने भीषण युद्ध करके विजय प्राप्त की है और प्रेम ही के सहारे उन्होंने विकट कष्ट सहे हैं। प्रेम ही के सहारे माता अपने पुत्र के लिए अनन्त कष्ट सहती है और स्वयं सब प्रकार के दुःख भोग कर उसे सुख देती है। माताओं को बहुधा ऐसी अवस्था में रहना पड़ता है जिसमें यदि उन्हें प्रेम का सहारा न हो तो वे बहुत शीघ्र बीमार हो जायँ। पर वह प्रेम उन्हें रोगी होने से बचाता है। उलटे शुद्ध प्रेम उन्हें बलिष्ठ और सुन्दर बनाता है। बिना प्रेम के अच्छी-से-अच्छी सुख-सामग्री हमें तनिक भी प्रसन्न नहीं कर सकती, पर प्रेम की सहायता से हम बिना और किसी सुख-सामग्री के भी परम सुखी हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेम से संसार की समस्त उत्तम बातों की सृष्टि होती है और समस्त बुरी बातों का नाश होता है। संसार में सुख और प्रतिष्ठापूर्वक रहने के लिए मिलनसार होने की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है और मिलनसार वही मनुष्य हो सकता है जिसका हृदय प्रेम-पूर्ण हो। संसार में हमारे बहुत से काम केवल मिलनसारी से ही निकल सकते हैं। जिस मनुष्य का स्वभाव प्रेमपूर्ण और मिलनसार होता है उसे सब स्थानों और

अवस्थाओं में मित्र और सहायक मिल जाते हैं। हम नित्यप्रति देखते हैं कि मिलनसार मनुष्य के कठिन काम बहुत ही सहज में हो जाते हैं, और जिस मनुष्य का स्वभाव मिलनसार नहीं होता उसके साधारण काम भी बेतरह रुक जाते हैं। और नहीं तो कम-से-कम सांसारिक उन्नति के लिए ही मनुष्य को मिलनसार होने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपना स्वभाव मिलनसार और प्रेमपूर्ण बनाना चाहिए।

[मानव-जीवन]

हरिणों का स्मरण

काका कालेलकर

एक विशाल वन था। बीस-बीस, तीस-तीस कोस तक न झोंपड़ी का पता था, न मुसाफिरों के कामचलाऊ चूल्हों का। वन में एक रमणीय तालाब था। तालाब के पास कुछ हरिण रहते थे। तालाब के किनारे बेल का एक पेड़ था। उस पेड़ के नीचे पाषाण रूप में महादेव जी विराजमान थे। हरिण रोज तालाब में नहाते, महादेवजी के दर्शन करते, और चरने जाते। दोपहर को आकर बेल के पेड़ के नीचे विश्राम करते; शाम को तालाब का पानी पीकर महादेवजी के दर्शन करते और सो जाते। बिना कोई शास्त्र पढ़े ही हरिणों को का ज्ञान हुआ था। इसलिए वे सन्तोष-पूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

माघ का महीना था। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन की बात है। एक विकराल व्याध उस वन में घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याध बहुत ही भूखा था। व्याधों की भूख ऐसी-वैसी भूख नहीं होती। अगर उन्हें कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते हैं। लेकिन हमारे इस व्याध को अपनी भूख का दुख न था—"घर में बाल-बच्चे भूखे हैं, उन्हें क्या खिलाऊँ? क्या मुँह लेकर घर जाऊँ? अगर शिकार न मिला, तो खाली हाथ घर जाने की अपेक्षा रात बन

में ही रह जाना अच्छा होगा—शायद कुछ हाथ लग जाय।" इस तरह सोचता हुआ वह तालाब के किनारे आया और बेल के पेड़ पर चढ़कर बैठ गया।

अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण के लिये स्वयं बहुत कष्ट उठाने और खतरों का सामना करने को ही वह अपना धर्म समझता था। इससे अधिक व्यापक धर्म का ज्ञान उसे नहीं था।

रात हुई। कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी काली रात। कुछ दिखाई न पड़ता था। व्याध ने तालाब की ओर देखने में रुकावट डालने वाले बेल के पत्तों को तोड़-तोड़ कर नीचे फेंक दिया। इतने में वहाँ दो-चार हरिण पानी पीने आये। पेड़पर बैठे व्याध को देखकर वे चौंक पड़े और निराशाभरे स्वर में बोले—"हे व्याध, धनुष पर बाण न चढ़ा। हम मरने को तैयार हैं, पर हमें इतना समय दे दे कि हम घर जाकर अपने बाल-बच्चों और सगे-सम्बन्धियों से मिल आयें। सूर्योदय से पहले ही हम यहां हाजिर हो जायंगे।"

व्याध खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो? क्या मैं इस तरह अपने हाथ आये शिकार को छोड़ दूँ? मेरे बाल-बच्चे तो उधर भूखों तड़प रहे हैं।"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चों का ही खयाल करके इतनी छुट्टी चाह रहे हैं। एक बार आजमाकर तो देख कि हम अपने वचन का पालन करते हैं या नहीं?"

व्याध के मन में श्रद्धा और कौतुक जाग उठा। ठीक सूर्योदय-से पहले लौट आने की ताकीद करके उसने उन हरिणों को घर जाने दिया और खुद बेल के पत्तों को तोड़ता हुआ रात भर जागता रहा। श्रद्धावान् व्याध के हाथों अपने सिर पर पड़े बिल्वपत्रों से महादेवजी सन्तुष्ट हुए।

ठीक सूर्योदय का समय हुआ, और हरिणों का एक बड़ा दल वहां आ पहुंचा।

हरिण घर गये, बाल-बच्चों से एक-दूसरे के खुजलाया, नन्हें बच्चों को प्रेम से चाटा, उन्हें व्याध की कहानी कह सुनाई और बिदा माँगी।

"दुष्ट व्याध के साथ वचन-पालन कैसा? 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।' पैरों में जितना जोर हो उतना सब जोर लगाकर यहाँ से चुपचाप भाग जाओ।" ऐसी सलाह देनेवाला उनमें कोई न निकला। सगे-सम्बन्धियों ने कहा—"चलो हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छा से मृत्यु स्वीकार करने पर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-यज्ञ को देखकर हम पुनीत होंगे!"

बाल-बच्चे साथ हो लिये। मानो सब व्याध की हिंसता की परीक्षा करने ही निकले हों!

सूर्योदय से पहले ही सारा दल वहाँ आ पहुँचा। रात वाले हरिण आगे बढ़े और बोले—"लो भाई हम वध के लिये तैयार हैं।" दूसरे हरिण भी बोल उठे—"हमें भी मार डालो! अगर हमें मारने से तुम्हारे बाल-बच्चों की भूख शान्त होती है तो अच्छा ही है।" व्याध की हिंसावृत्ति रात्रि की तरह लुप्त हो गई। सारे दिन का उपवास और रात के जागरण से उसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हुई थी। तिस पर इन प्रतिज्ञा-पालक हरिणों का धर्माचरण देख कर वह दंग रह गया। उसके हृदय में नया प्रकाश फैला। उसे प्रेम-शौर्य की दीक्षा मिली। वह पेड़ से उतरा और हरिणों की शरण गया। दो पैरवाले ने चार पैर वाले पशुओं के पैर छुए। आकाश से श्वेत पुष्पों की वृष्टि हुई। कैलाश से एक बड़ा विमान उतर आया। व्याध और हरिण उसमें बैठे और कल्याण-कारिणी शिवरात्रि का महात्म्य गाते हुए शिवलोक सिधारे। आज भी वे दिव्य रूप में चमकते हैं।[1]

1 मृग-नक्षत्र और व्याध

मुझसे सब अच्छे

घनश्यामदास बिड़ला

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन दे देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज़ सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहां पहुँची होगी! कहांसे चली, कितना उपकार किया, इसका अंदाजा कौन लगाये? भारत का पश्चिमी सागर यहांसे करीब ६०० मील होगा; किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र-ही-समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशों से पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह वायु यहां पहुँची होगी, और अब यहां के लोगों को सुख देती हुई अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शांत भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती? हवा से मैंने कहा, "हवा! तुम संसार का इतना उपकार करती हो; किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मैं अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता? तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी

बात करो, उसको बढ़ा-चढ़ाकर अखबारों में छपा दिया करो।"

हवा ने पूछा, "कौनसा अखबार अच्छा है ?"

मैंने कहा, "हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत-से अखबार हैं! सभी में अपनी प्रशंसा छपाया करो।"

हवा बोली, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहांके अख़बार जाते हैं ?"

मैंने कहा, "वहां तो नहीं जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा, "तुम पक्के कूप-मंडूक हो। तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले रखा है और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहां सब खबरें अपने आप पहुँचती हैं—भली-बुरी सभी बातें वहां छपती रहती हैं। किसी बात का वहां पक्षपात नहीं। किसीके कहने से वहां कोई खबर नहीं छापी जाती है। सच्ची खबरें वहां स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं कि विज्ञापनबाज़ी के दलदल में फँस जाऊं। निस्स्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं और हवा-जैसी जड़ वस्तु का अनुकरण करूं ? मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूं। अखबारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा; किन्तु हवा को तो 'लगन लगी प्रभु पावन की' ! उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहां ? वह तो—"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति-नाशनम्—" गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊंट महाशय अपनी थकान मिटाने के लिए हाथ-पांव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊंट से कहा, "तुम बड़े गंवार हो। ज़रा भी तमीज़ नहीं है।

पशु ही जो ठहरे। हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें मनुष्य भी किनारे खड़े होकर, झुककर, हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलने-वालों का नाकों दम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उल्टा धूल उछालना शुरू कर दिया। इसीसे मालूम होता है कि तुम गंवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊंट ने अपना व्यायाम तो बन्द कर दिया; पर वह मेरी बात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पड़ा। बोला, "तुम मूर्ख तो हो ही किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है। उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा; किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता न करना। बस, यह समझ लो कि तुम मुझसे बहुत गये-बीते हो।"

मैंने कहा, "ऊंट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है?" ऊंट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी। आंखों में तेज चमकने लगा। अपने नयनों को फटकारकर उसने कहा, "क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है? क्या औरंगज़ेब, नादिरशाह, महमूद ग़ज़नी, हत्यारा अब्दुर्रशीद या कंस, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बिरते पर क्या वे अपने को हम पशुओं से ऊंचा समझ सकते हैं? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हज़ार बार धिक्कार है!"

मैं कुछ ठण्डा पड़ गया। मैंने कहा, "भाई ऊंट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे नर-राक्षस थे; किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूं। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ में मैं तुमसे कहीं अच्छा हूँ।"

ऊंट फिर हंस पड़ा। कहने लगा, "अच्छा, ज़रा बता तो दो,

तुम्हारे अंदर मुझसे कौन-सी अच्छी बात है ?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ ? आखिर मुझ में कौन-सी अच्छी बात है, जिसका मैं गर्व कर सकूँ ? अत्यन्त साहस करके मैंने दबी जबान से कहा, "अच्छा तो देखो, तुम जानते हो, मैं त्यागी लोगों से कितना प्रेम करता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है ?" ऊंट ने गर्व के साथ कहा, "इसमें गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूं, मिर्च-मसाले नहीं खाता।" ऊंट ने कहा, अच्छा त्याग किया ! मुझे तो देखो कि केवल सूखी पत्तियां ही चबाकर रह जाता हूं।" मैंने कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊंट ने कहा, "क्यों झूठा अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया। मैं तो ब्रह्मचारी हूँ।" मैंने कहा, "मुझमें ईर्ष्या द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम बोलता हूं, सो भी अनजान में। रोष भी कम आता है।" ऊंट ने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ाई की बात है ? मुझ में न ईर्ष्या है, न द्वेष और न क्रोध। झूठ तो जीवन में कभी बोला नहीं।"

मैंने कहा, "मुझमें सेवा-वृत्ति है।"

ऊंट ने कहा, "इसका नमूना तो हम रोज देखते हैं। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी मां का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों में इसी बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणासूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊंटों, घोड़ों और बैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लंगड़ा किया है ! कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है ! अच्छा सेवा का दम भरने चले हो ! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ और न जिह्वा-स्वाद

का नाममात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ। फिर भी बेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसी को सेवा-व्रत कहते हैं। तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुम्हें कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर। सफर करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियां साथ में चलती हैं और तुम्हारे लिए बोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं मिलता, किन्तु तुम्हारे बगीचों की फुलवाड़ी को सरसब्ज रखने में ही ग्राम के अनेक बैलों की शांति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्राय: ब्रह्मचारी रहते है, किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य-समाज इस विषय में बड़ा पतित है। शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपने को हमसे श्रेष्ठ समझो।"

ऊंट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, "मूर्ख, तू ऊंट से भी गया बीता है।" पास में खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, "ऊंट सच कहता है।" तब मैंने कहा, "प्रभो ! मुझे ऊंट जितना आत्म-बल दो।"

सहसा आकाश में बिजली चमकी। मेघ गर्जा। सुननेवालों ने सुना। कहनेवालों ने कहा—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो नमकहरामी !
मो सम कौन कुटिल खल कामी ?"

किसीने कहा, "कहनेवाला और सुननेवाला दोनों एक हैं।"

किसीने कहा, "यह अन्तर्नाद है।"

मैंने चिल्लाकर कर कहा, "मुझसे सब अच्छे हैं।"

मेरा जीवन

प्रेमचन्द

मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खडुों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा होगी। मेरा जन्म संवत् १९३७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज़, एक बड़ी बहन थी। उस समय पिता जी शायद २०) पाते थे। ४०) तक पहुंचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वे बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गए और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल भर ही बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूंजी थी, वह पिता जी की छह महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था वकील बनने का, और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद-बारह की कोई जगह पा जाता, पर यहाँ तो आगे बढ़ने की धुन

थी—पांव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियां थीं, और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।

पांव में जूते न थे, देह पर कपड़े न थे। महँगी अलग। १० सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्विंस कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ करदी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे, चार बजे पहुँचता। पढ़ाकर छह बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बांधे हुए था।

मैट्रिक्यूलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेंड डिवी-जन और क्विंस कालेज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दर्जे वालों की ही मुआफ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया था। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसीपल थे मि० रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वे पूरे हिन्दुस्तानी वेष में थे। कुरता और धोती पहने हुए फ़र्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज़ को तबदील करना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कह पाया था—बोले कि घर पर मैं कालेज की बात-चीत नहीं करता, कालेज में आओ। खैर कालेज में गया। मुलाकात तो हुई, पर निराशा-जनक! फीस मुआफ न हो सकती थी। अब क्या करूं। अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता, लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था!

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊं, पर १२ मील-की मंज़िल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ! कोई अपना

मुश्तर न था।

कई दिनों बाद सिफारिश मिली! एक ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्धकारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनंद की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसीपल से मिलने का इरादा था, लेकिन घर पहुंचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया - एक दिन घर पर बैठा था कि मेरे पुरोहित जी आ गए। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा। और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाए और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ दिलवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घण्टे ही भर की देरी थी। इस औषधि ने, मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने बार-बार पण्डित जी से उस जड़ी का नाम पूछा, पर उन्होंने न बताया। कहा—नाम बताने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि० रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसीपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—इतने दिन से कहाँ थे?

"बीमार हो गया था।"

"क्या बीमारी थी?"

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी चीज़ थी। जिसके लिए इतनी लम्बी गैरहाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया भी उभारे। उस समय मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह से जब सिफारिश के लिए मिला था, तब उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आगया। मैंने कहा—पैलपिटेशन आफ़ हार्ट, सर।

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—'अब तुम बिल्कुल अच्छे हो ?'

'जी हां !'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भर कर लाओ ।'

'मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ । फ़ार्म लिया, खानेपूरी की और पेश कर दिया । साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे । तीन बजे मुझे फ़ार्म वापिस मिला । उस पर लिखा था—'इसकी योग्यता की जाँच की जाय ।'

यह नई समस्या उपस्थित हुई । मेरा दिल बैठ गया । अंग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी, और बीजगणित और रेखागणित से मेरी रूह काँपती थी । जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था। भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फ़ार्म दिखाया । प्रोफेसर साहब बंगाली थे । अंग्रेज़ी पढ़ा रहे थे । वाशिंगटन इर्विङ्ग का रिपवान विंकिल था । मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया । और दो ही चार मिनिट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं । घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझ से कई प्रश्न किये और मेरे फ़ार्म पर 'सन्तोषजनक' लिख दिया ।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था । यह प्रोफेसर भी बंगाली थे । मैंने अपना फ़ार्म दिखाया । नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती । यहाँ भी यही हाल था । क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे । पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया । भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है । अब पेट भर गया था । छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे । इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया । फ़ार्म में गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया ।

मैं इतना हताश हुआ कि फ़ार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया ।

सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर चढ़ न सका। इण्टरमीडिएट में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में अख्तियारी हो गई, तब मैंने दूसरे विषय लेकर आसानी से पास कर लिया। बस उस समय यूनिवर्सिटी के इस नियम ने कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। खैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारूं और फिर कॉलेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसलिए शहर में रहना ज़रूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपए वेतन ठहरा। मैंने दो रुपए में अपना गुज़र करके तीन रुपए घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की मैंने आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाज़ार से एक छोटा-सा लेम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-मांजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ दत्त का 'फिसाना आज़ाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्तासंतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू-अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब ज़रूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता।

उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार मांगने में भी संकोच होता और दिन का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पांच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी ज़माने में शहर का एक बेलदार मुझ से हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुन तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वे पैसे उसने मुझसे मेरे घर—गांव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूं; पर नौकरी कैसे मिलती है और कहां मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था, या संकोच-वश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुञ्जी थी। दो साल हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे हुए थे, मुझ से पूछा—तुम यहाँ कहाँ पढ़ते हो?

मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ; पर आशा करता हूँ कि कहीं

नाम लिखा लूंगा ।

'मैट्रिक्युलेशन पास हो ?

'जी हां ।'

'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?'

'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं ।'

वे सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे । उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी । अठारह रुपये वेतन था । मैंने स्वीकार कर लिया । अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे । मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वायदा करके चला, तो पांव जमीन पर न पड़ते थे । यह १८९९ की बात है । परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता; पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे बड़े सभी को एक खाट पर सुलाता था ।

मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू कीं । डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू-अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था । उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया । मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में, लेकिन गल्प १९०७ से पहले मैंने एक भी न लिखी । मेरी पहली कहानी का नाम था—'संसार का सबसे अनमोल रत्न ।' वह १९०७ में 'जमाना' में छपी । उसके बाद मैंने चार-पांच कहानियां और लिखीं । पांच कहानियों का संग्रह, 'सोजे-वतन' के नाम से १९०७ में छपा । उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था । कांग्रेस में गर्म-दल की सृष्टि हो चुकी थी । इन पांचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी ।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर के

जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं अपनी रावटी में बैठा था, कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात ३०-४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोजे-वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा—यह पुस्तक तुमने लिखी है? मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझ से एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले—तुम्हारी कहानियों में सिडीशन भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियां एकांकी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोजे-वतन' की सारी प्रतियां सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हजार प्रतियां छपी थीं, अभी मुश्किल से ३०० बिकी थीं, शेष ७०० प्रतियां मैंने 'जमाना-कार्यालय' से मंगवा कर साहब की सेवा में अर्पित कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिटेंडेंट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्स्पेक्टर—जिनका मैं मातहत था—मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर

साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है और सिडीशन भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक ! पुलिस के देवता ने कहा—ऐसे ख़तरनाक आदमी को ज़रूर सख्त सज़ा देनी चाहिये। डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब मुझ से बहुत स्नेह करते थे। इस भय से, कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वे मित्र-भाव से मेरे राजनैतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें; कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालांकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलक्टर साहब ने डिप्टी इन्स्पेक्टर से पूछा—आपको आशा है, कि वह अपने दिल की बातें कह देगा ?

डिप्टी साहब ने कहा—जी हाँ, उनसे मेरी घनिष्ठता है।

'आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूँ।'

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—मैं तो हुजूर के हुक्म'''साहब ने बात काटी—नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है, मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक में लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकदमा चलाइए; नहीं, धमकी देकर छोड़ दीजिए। मुंह में राम बगल में छुरी मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कही, तब मैंने पूछा—क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते ?

वे हँसकर बोले—असम्भव। कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था और वह रुक गई। मुकदमा अदालत में जाता, तो सज़ा हो जाना यकीनी

था। यहाँ आपकी पैरवी करनेवाला भी कोई न मिलता; मगर साहब हैं शरीफ आदमी।

मैंने स्वीकार किया—बहुत ही शरीफ।

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गई। गर्मी के दिनों में देहात में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुइयाँ खानी पड़ीं। यों मैं घुइयों को बिच्छू समझता हूँ और तब भी खाता था, लेकिन न जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गई कि अजवाइन से घुइयों का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन जलाकर खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुन्देलखण्ड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल-पाचनशक्ति को तीव्र कर दिया; लेकिन एक दिन पेट में दर्द शुरू हुआ और सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फंकियाँ खाईं, मगर दर्द न कम हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गई, मलके साथ आंव आने लगा; लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा, तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने ही में ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूंग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा, क्या हरज है आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा। थाने ही में अड्डा जमा दिया। दरोगाजी ने जमींकंद का सालन पकवाया, पकौड़ियाँ, दहीबड़े, पुलाव। मैंने ऐहतियात से खाया—जमींकन्द तो मैंने केवल दो फाँकें खाईं; लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के फूँस के बंगले में लौटा, तो दो-ढाई घण्टे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन-भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकन्द की कारस्तानी है। घुइयों से पहले ही मेरी छुट्टी हो चुकी थी। अब जमींकन्द से बैर हो

गया। तब से इन दोनों चीज़ों की सूरत देखकर मैं कांप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा; पर पेचिश ने अड्डा जमा दिया। पेट में चौबीसों घण्टे तनाव बना रहता, अफारा हुआ करता। संयम के साथ चार-पांच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई-न-कोई औषधि भी खाया करता; किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी, और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा कराई। एक बार महीने-भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वैदिक औषधियों का सेवन किया; पर कोई फायदा नहीं।

तब मैंने अपना तबादला कराया। चाहता था रोहेलखण्ड; पर पटका गया बस्ती के जिले में और हलका वह मिला, जो नैपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी, लेकिन यहाँ आकर पेचिश और बढ़ गई। तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली, और लखनऊ के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के एक हकीम से इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा-सा फायदा तो मालूम हुआ; पर बीमारी जड़ से न गई। जब फिर बस्ती पहुँचा, तो वही हालत हो गई। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती-हाईस्कूल में स्कूल-मास्टर हो गया। फिर वहाँ से तबदील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत् जारी रही। यहाँ मेरा परिचय महावीरप्रसाद जी पोद्दार से हुआ, जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती में ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाई थीं। पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवा-सदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने प्राइवेट बी० ए० भी पास किया। 'सेवा-सदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दारजी की सलाह से मैंने जल-चिकित्सा

आरम्भ की; लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और धड़धड़ाते हुए चले गये, पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। उसी दिन मुझे अपनी कमज़ोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया अब मेहमान हूँ; जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन संध्या-समय उर्दू बाजार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी सम्पादक 'स्वदेश' से भेंट हुई। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा—बाबूजी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गये हैं; कोई इलाज कराइये।

मुझे अपनी बीमारी का ज़िक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का जिन्दगी से नाता है, तो क्यों न हँसकर मरूँ। मैंने चिढ़कर कहा—मर ही तो जाऊंगा भई, या और कुछ। मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गये। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह १९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाज़ीमियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माओं के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो-ही-चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी

का देहात में एक मकान था। हम और वे दोनों वहां से चले गये और चर्खे बनवाने लगे। वहां जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी यहां तक कि एक महीने के अन्दर मल के साथ आंव का आना बन्द हो गया। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। गुलामी से मुक्त होते ही मैं ९ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इन अनुभवों ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब दृढ़ विश्वास है, कि भगवान की जो इच्छा होती है, वही होता है, और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।

काकी

सियारामशरण गुप्त

उस दिन बड़े सबेरे जब श्यामू की नींद खुली तब उसने देखा—घर-भर में कुहराम मचा हुआ है। उसकी काकी—उमा—एक कम्बल पर नीचे-से ऊपर तक एक कपड़ा ओढ़े हुए भूमि-शयन कर रही है, आज घर के सब लोग उसे घेरकर बड़े करुण-स्वर में विलाप कर हैं।

लोग जब उमा को श्मशान ले जाने के लिये उठाने लगे, तब श्यामू ने बड़ा उपद्रव मचाया। लोगों के हाथों से छूटकर वह उमा के ऊपर जा गिरा। बोला—काकी सो रही हैं, उन्हें इस तरह उठाकर कहां लिये जा रहे हो? मैं न ले जाने दूंगा।

लोगों ने बड़ी कठिनता से उसे हटा पाया। काकी के अग्नि-संस्कार में भी वह न जा सका। एक दासी राम-राम करके उसे घर पर ही संभाले रही।

यद्यपि बुद्धिमान् गुरुजनों ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी काकी उसके मामा के यहां गई हैं, परन्तु असत्य के आवरण में सत्य बहुत समय तक छिपा न रह सका। आस पास के अन्य अबोध बालकों के मुंह से ही वह प्रकट हो गया। यह बात उससे छिपी न रह सकी कि काकी और कहीं नहीं, ऊपर राम के यहां गई हैं। काकी के लिये

कई दिन तक लगातार रोते रोते उसका रुदन तो क्रमशः शान्त हो गया, परन्तु शोक शान्त न हो सका । वर्षा के अनन्तर एक ही दो दिन में पृथ्वी के ऊपर का पानी अगोचर हो जाता है, परन्तु भीतर ही भीतर उसकी आर्द्रता जैसे बहुत दिन तक बनी रहती है, वैसे ही उसके अन्तस्थल में वह शोक जाकर बस गया था । वह प्रायः अकेला बैठा बैठा शून्य मन से आकाश की ओर ताका करता ।

एक दिन ऊपर एक पतंग उड़ती देखी । न जानें क्या सोचकर उसका हृदय एक दम खिल उठा । विश्वेश्वर के पास जाकर बोला—काका, मुझे एक पतंग मंगा दो । अभी मंगा दो ।

पत्नी की मृत्यु के बाद से विश्वेश्वर अन्यमनस्क रहा करते थे । 'अच्छा मंगा दूंगा' कहकर वे उदास भाव से और कहीं चले गये ।

श्यामू पतंग के लिए बहुत उत्कण्ठित था । वह अपनी इच्छा किसी तरह रोक न सका । एक जगह खूंटी पर विश्वेश्वरका कोट टंगा हुआ था । इधर-उधर देखकर उसने उसके पास एक स्टूल सरका कर रक्खा और ऊपर चढ़कर कोट की जेबें टटोलीं । उनमें से एक चवन्नी का आविष्कार करके वह तुरन्त वहां से भाग गया ।

सुखिया दासी का लड़का—भोला—श्यामू का समवयस्क साथी था । श्यामू ने उसे चवन्नी देकर कहा—अपनी जीजी से कह-कर गुपचुप एक पतंग और डोर मंगा दो । देखो, खूब अकेले में लाना; कोई जान न पावे ।

पतंग आई । एक अंधेरे घर में उसमें डोर बांधी जाने लगी । श्यामू ने धीरे से कहा—भोला, किसी से न कहे तो एक बात कहूँ ।

भोला ने सिर हिलाकर कहा—नहीं किसी से न कहूँगा ।

श्यामू ने रहस्य खोला । कहा—मैं यह पतंग ऊपर राम के यहां भेजूंगा । इसे पकड़ कर काकी नीचे उतरेंगी । मैं लिखना नहीं जानता नहीं तो इसपर उसका नाम लिख देता ।

भोला श्यामू से अधिक समझदार था । उसने कहा—बात तो

बड़ी अच्छी सोची, परन्तु एक कठिनता है। यह डोर पतली है। इसे पकड़कर काकी उतर नहीं सकती। इसके टूट जाने का डर है। पतंग म मोटी रस्सी हो, तो सब ठीक हो जाय।

श्यामू गम्भीर हो गया। मतलब यह,—बात लाख रुपये की सुझाई गई है। परन्तु कठिनता यह थी कि मोटी रस्सी कैसे मंगाई जाय। पास में दाम हैं नहीं और घर के जो आदमी उसकी काकी को बिना दया-माया के जला आये हैं, वे उसे इस काम के लिये कुछ नहीं देंगे। उस दिन श्यामू को चिन्ता के मारे बड़ी रात तक नींद नहीं आई।

पहले दिन की ही तरकीब से दूसरे दिन फिर उसने विश्वेश्वर के कोट से एक रुपया निकाला। ले जाकर भोला को दिया और बोला—देख भोला, किसी को मालूम न होने पावे। अच्छी अच्छी दो रस्सियां मंगा दे। एक रस्सी ओछी पड़ेगी। जवाहिर भैया से मैं एक कागज पर 'काकी' लिखवा रक्खूंगा। नाम की चिट रहेगी, तो पतंग ठीक उन्हीं के पास पहुँच जायेगी।

दो घण्टे बाद प्रफुल्ल मन से श्याम और भोला अंधेरी कोठरी में बैठे बैठे पतंग में रस्सी बांध रहे थे। अकस्मात् शुभ कार्य में विघ्न की तरह उग्र रूप धारण किये हुये विश्वेश्वर वहां आ घुसे। भोला और श्यामू को धमकाकर बोले—तुमने हमारे कोट से रुपया निकाला है ?

भोला सकपकाकर एक ही डांट में मुखबिर बन गया। बोला—श्यामू भैया ने रस्सी और पतंग मंगाने के लिये निकाला था।—विश्वेश्वर ने श्यामू को दो तमाचे जड़कर कहा—चोरी सीखकर जेल जायगा ? अच्छा, तुझे आज अच्छी तरह समझाता हूँ। कहकर फिर तमाचे जड़े और कान मलने के बाद पतंग फाड़ डाली। अब रस्सियों की ओर देखकर पूछा—ये किसने मंगाई ?

भोला ने कहा—इन्हीं ने मंगाई थीं। कहते थे, इससे पतंग तान कर काकी को राम के यहां से नीचे उतारेंगे।

विश्वेश्वर हतबुद्धि जैसे होकर वहीं खड़े रह गये । उन्होंने फटी हुई पतंग उठाकर देखी । उसपर चिपके हुए कागज पर लिखा हुआ —"काकी" ।

मानव का सत्य

जैनेन्द्र कुमार

हम जानते हैं कि चीज़ें बदला करती हैं। जिंदगी में हम बदल गये हैं और जिन चीज़ों को हम जैसा जाना करते थे, वे आज वैसी ही नहीं हैं। देखते-देखते एक लहलहाता गांव उजड़ गया है, और जहां बंजर धरती थी, वहां शहर बस गया है। जो बच्चे थे, आज बड़े हो गये हैं और जिम्मेदार आदमी समझे जाते हैं। कुछ उनमें अब शेष भी नहीं हैं, वे काल-कवलित हो गये हैं। कुछ और हैं जो चलते-चलते मौत के किनारे पहुँच रहे हैं। सारांश दुनिया चलती रहती है और चीज़ें बदलती रहती हैं।

कुछ पदार्थ हमें अचल प्रतीत होते हैं। धरती है, मकान है, पहाड़ है,—ये चीज़ें स्थिर जान पड़ती हैं। इनमें परिवर्तन नहीं दीखता। पर ऐसी बात है नहीं, अचल वह भी नहीं हैं। साधारणतः हमें उनमें होते रहने वाला परिवर्तन दीखता नहीं, पर इतिहास के मार्ग से और अन्यान्य विज्ञानों के द्वारा हम जानते हैं कि वे जैसे हैं, वैसे कभी नहीं भी थे। गति अस्तित्व की शर्त है, और जो है परिवर्तनीय है। परिवर्तनीयता 'होने' की परिभाषा है।

वस्तुओं की आयु भिन्न है और उनमें होने वाले परिवर्तनों की गति का वेग भी भिन्न है। हर एक अस्तित्व में ये दो क्रियाएं निरन्तर

रहती हैं,—कुछ उसमें से मिटता रहता है, कुछ और नया होता रहता है। उत्पत्ति और समाप्ति, ये दो पहलू प्रत्येक अवस्था में हैं। पुरातन व्यर्थ एवं जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है, नूतन उसकी जगह लेता है। इसी भांति परिवर्तन सम्पन्न होता है।

अपने चारों ओर घटित होती हुई घटनाओं में एकाएक हमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती। शहर क्यों खड़ा हो गया और गांव क्यों उजड़ गया? पिता कहाँ है और उसकी जगह अब पुत्र क्यों निश्चिन्तता-पूर्वक तना बैठा है? हमारे चारों ओर की हालत क्यों बदल गई है? किस भांति एक मामूली व्यापारी बढ़कर बड़ा आदमी हो गया और क्यों कल का बड़ा आदमी आज पूछा भी नहीं जाता?—चारों ओर आंख खोलकर देखने से मन में इसी प्रकार के प्रश्न उठते हैं और वे प्रश्न बहुतेरा उत्तर देने पर भी अन्त तक कुछ प्रश्न से ही बने रहते हैं।

लेकिन यदि हम वर्तमान को तटस्थ होकर देख सकें, जोकि पूर्णतया सम्भव नहीं है, तो हमें प्रतीत होगा कि वर्तमान की कोई कटी हुई अपनी सत्ता नहीं है। जो था उसी में से यह वर्तमान बना है। यह मनमाना नहीं है। मनमाना हो भी नहीं सकता। इस भांति जो भविष्य में होगा, वह भी आज के वर्तमान से निरा असम्बद्ध नहीं है। आज ही को कल होना है।

हम देख सकेंगे कि परिवर्तनों में क्रम है और काल की प्रगति में जो आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, वे निरे असंगत और अहेतुक नहीं हैं। उनमें संगति और हेतु है।

किन्तु घटना का औचित्य उस घटना में बन्द नहीं पाइयेगा। घटना को वृत्त मानकर उसी के भीतर हेतु खोजने से नहीं चलेगा। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन को सबसे तोड़कर अपने में ही उसे समझना चाहे तो जीवन व्यर्थ-सा और अतर्क्य-सा मालूम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि जब व्यक्ति अपनी जिन्दगी के, साठ, सत्तर, सौ वर्ष जीकर समाप्त होता है, तब भी उसका परिवार चलता रहता

है। परिवार मिट जाते हैं और समाज बना रहता है। इसी तरह एक राष्ट्र के जीवन में समाज अपना जीवन-दान कर जाता है। सहस्र-सहस्र वर्षों के इस प्रकार के संयुक्त जीवन की साधना के परिणाम-स्वरूप संस्कृतियां बनती हैं। मनुष्य का ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति इसी भांति उन्नत और पुष्ट होती जाती हैं।

हम देखें कि समस्त परिवर्तनों में नितांत असंगति ही नहीं है, प्रत्युत उनमें एक विकास धारा है। चीजें बनती हैं और मिटती हैं, पर वे अनर्थक भाव से नहीं बनती-बिगड़ती। पिता यदि पुत्र को जन्म देकर स्वयं मौत की ओर बढ़ जाता है, तो यह भी एक नियम के अनुसार हैं। वह यद्यपि यह अंध भाव से कर सकता है पर वह विधान निरर्थक नहीं है, नियमानुकूल है। मनुष्य चाहे उसमें अपनी तृप्ति माने अथवा उसे अपने लिये शाप समझे, पर वह अनिवार्य है। मानव जीवन का अर्थ उसके अपने ही भीतर नहीं हैं।

एक अनिर्दिष्ट निर्देश से मानव जीता, चलता और मरता है। वह अज्ञान से अथवा ज्ञानपूर्वक अपने जीवन के चक्कर को काटता है और अपने जीवन-दान से बृहत् चक्र के संचालन में सहयोगी बनता है।

हम परिवर्तन करते हैं, और परिवर्तन हम पर होते रहते हैं। उसके साथ हम भी जान लें कि वह परिवर्तन मात्र परिवर्तन नहीं है, वह उन्नति और विकास है। जानें कि सब-कुछ के द्वारा और हमारे द्वारा भी युग-युग के भीतर एक विकास अपने को सम्पन्न कर रहा है। हम उसके साधन हैं, और भाग हैं।—हम और कुछ नहीं हो सकते। विकास न रुकेगा। भविष्य आवेगा ही। अतीत जो था, था, और भविष्य भी जो होगा, वही होगा। इस दृष्टि से वर्तमान की भी एक निश्चित रूपरेखा है। इसी महाचक्र के भीतर हम हैं। हम गिनती के वर्षों के लिये हैं, और परिमाण में साढ़े तीन हाथ से ज्यादा नहीं है। हम जब से आरम्भ हुए, उसकी जन्म-तिथि है; जिस रोज हम न रहेंगे वह भी एक तारीख होगी। हमारा अस्तित्व उन ओर छोर पर बैठी

तारीखों के बीच नपा नपाया है। किन्तु जन्म की तारीख से पहले भी दुनियां थी, और सब कुछ था। मृत्यु की तिथि के बाद भी दुनिया रहेगी और सब कुछ रहेगा। अपने आप ही आप में जब जब हम देखेंगे, तब-तब पावेंगे कि हमारी बहुत ही परिमित सत्ता है, और बहुत ही थोड़ा वश है।

लेकिन इसके साथ ही अमिट रूप में हम जानते हैं कि जो है, उसका नाश नहीं होता। सब परिवर्तन के मध्य में कुछ ध्रुव भी है। जिसमें परिवर्तन है वह सदा है, सदा था, सदा रहेगा। वह शाश्वत है और परिवर्तनों के द्वारा वह शाश्वत ही अपने को सम्पन्न करता है। हम जानते हैं कि असंख्य वर्ष पहले जो था, वह भी हमसे असम्बद्ध नहीं है। हम आज अपने भीतर इतिहास के अतीत के साथ भी अपना नाता अनुभव करते हैं। ऐतिहासिक पुरुषों की महत्ता हमें महत्ता की ओर प्रेरित करती है। उस अतीत के ज्ञान में हमें रस मालूम होता है। तब का इतिहास मालूम होता है अब भी हमारी रगों में सो रहा है, और वह जाग भी सकता है। सदियां हमें काल के क्षण-सी मालूम होती हैं और हम भूल जाते हैं कि हम परिमित प्राणी हैं। जान पड़ता है, इतिहास के भीतर भी हमीं हैं। हमीं वह हैं। आदिम मनुष्य ने जो भोगा और जो किया उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के दीर्घ काल में भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी यह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना हमारे जीवन में आज बीज रूप से व्याप्त है। उसी के फलस्वरूप हम आज हैं। नितांत एकाकी स्वतंत्र हम अपने आप में क्या हैं?

इस दृष्टि से चाहे हम परिमित हों, फिर भी अनन्त हैं। हम काल से भी नहीं बंधे हैं और न अंत से ही। शत सहस्र शताब्दियां हममें मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बड़ा है।

क्या हम भावी बदल सकते हैं? क्या हम अपने भी मालिक हैं?

क्या हम अपने आपमें भाग्य-बद्ध भी नहीं है ? क्या हमको माध्यम जानकर कुछ और महत्व नहीं व्यक्त हो रहा है, जो हमसे अतीत है ? हमारा समस्त यत्न अनन्ततः किस मूल्य का हो सकता है ? अनन्त-काल और अगाध विस्तार के इस ब्रह्मांड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत है ?

ऊपरी की बात कही जा सकती है, और उसका कोई खण्डन भी नहीं कर सकता। वह सत्य ही है उस महासत्य के तले ही विनीत हो जाना चाहिए। जब वह है तब मैं कहां ? तब अहंकार कैसा ? जब हम (अपने आपमें) सचमुच कुछ भी नहीं है तब और किसको क्षुद्र मानें ? नीच किसको माने ? तुच्छ किसको जाने ? हम उस महत्व की अनुभूति के तले अपने को शून्य ही मान रखने का तो अभ्यास कर सकते हैं।

और बस। अहंकार से छुट्टी पाने से आगे हम उस सत्ता के बहाने अपने में निराशा नहीं ला सकते। हम निराशा में प्रमादग्रस्त नहीं बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्यवादी नहीं बन सकते। यह भी एक प्रकार का अहंकार है। प्रमाद-स्वार्थ है, उच्छृंखलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगें कि हमारा अहंकार एक प्रकार से हमारी जड़ता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशा में भी पड़ सकने के लिये खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, व्यसन है, नशा है। नशीली चीज कड़वी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते है। यही बात निराशा में है। निराशा सुख प्रद नहीं है। फिर भी कुछ लोग हैं जो उसके दुख की चुस्की लेते रहने में कुछ सुख की झोंक का अनुभव करते है।

जिसने इस महासत्य को पकड़ा कि मैं नहीं हूं, मैं केवल अव्यक्त के व्यक्ति-करण के लिये हूं, वह भाग्य के हाथ में अपने को छोड़कर निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बात को नहीं भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्त का वह अंग है। वह (साधारण

अर्थों में) सुख की खोज नहीं करता। सत्य की खोज करता है। उसे वास्तव के साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नता की साधना में इस अत्यन्त वास्तव के साथ एकता पाने के रास्ते में, जो कुछ भी विपत्ति उस पर आये, जो खतरा, जो दुःख उसे उठाने पड़ें, वह सब हर्ष से स्वीकार करता है। अपना सुख दुख तो उसके लिए कुछ होना ही नहीं। इसलिए उसका सुख समस्तता के साथ अविरोधी सुख होता है। इस जगत में विलास दूसरे की पीड़ापर परिपुष्ट होता हुआ दीख पड़ता है। वैसा विलासमय सुख निरहंकारी मानव के लिये अत्यन्त त्याज्य बनता है।

हमने देखा चीज़ें बदलती हैं; देखा कि वे प्राकृतिक विकास क्रम के अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्ति की अथवा घटना की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। और यह भी देखा कि किसी व्यक्ति के लिये अपने ही उपर केंद्रित होने और अपने ही लिये रहने का अवकाश नहीं है। (अपने माने हुए) सुख से लिपटने और दुःख से भागने की छुट्टी भी व्यक्ति को नहीं है। विकास जब अपने आपको चरितार्थ कर रहा है तब व्यक्ति के लिये बीच में अपने सुख दुःख पैदा कर लेना उचित नहीं है। जीवन की स्वीकृति व्यक्ति का धर्म है, जो चाहे तो क्लेश उपस्थित करके वह अपने को मार भी सकता है।

यह हमने देखा। अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपने को संदेह हीन बनाने की कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है? अपनी इन्द्रियों को क्या मार लेना होगा? अपनी भावनाओं को तपस्या द्वारा कुचल ही देना होगा? अपने भीतर की सुन्दर असुन्दर, ग्राह्य और अग्राह्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब विवेक भावना क्या व्यर्थ है? अनादि-काल से हमारे भीतर एक वस्तु को हर्ष से अपनाने और दूसरी को दृढ़ता से वर्जित रखने की जो अंतस्थ सहज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है? क्या सबसे मुंह मोड़कर काम-क्लेश में "स्टोइक रेजिग्नेशन्(Stoic resignation) में बन्द हो जाना होगा?

क्या संवेदन-हीन, प्रभाव हीन बनने की ही साधना व्यक्ति के लिये सिद्धि होगी ?

और ऐसा हुआ है। लोगों ने अपने को कुचलने में सिद्धि मानी है। उन्होंने अपने से इन्कार किया है, दुनिया से इनकार किया है और एक प्रकार से 'न' कार की साधना की है। उन्होंने 'मैं अपने को कुचल दूंगा' ऐसा संकल्प बनकर कुचलने पर इतना जोर दिया है कि वह भूल गये हैं कि इसमें ''मैं'' पर भी आवश्यक रूप में जोर पड़ता है। 'मैं' कुचल कर ही रहूँगा, यह ठानकर कुचलने में जोर लगता है, उसका वह जोर असल में 'अहं' के सिंचन में जाता और वहीं से आता है। इस प्रकार तपस्या द्वारा अपने को कुचलने में आग्रही होकर भी उल्टे अपने सूक्ष्म अहं को अर्थात 'मैं' को, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनिया से मुंह मोड़कर उस दुनिया की उपेक्षा और विमुखता पर अवलंबित है वह अन्त में मूलतः अहं सेवन करने ही का एक रूप है।

जो विराट, जो महामहिम, सब घटनाओं में घटित हो रहा है, उसकी ओर से विमुखता धारण करने से आत्यैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीजें बदल रही हैं और उनकी ओर से निस्संवेदन, उनकी ओर से नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहने की साधना आरंभ से ही निष्फल है। व्यक्ति अपने आप में मूर्ख नहीं है। सब सम्पूर्ण का प्रभाव उस पर क्यों न होगा ? प्रभाव न होने देने का हठ रखना अपने को अपूर्व रखने का हठ करने जैसा है जो कि असंभव है। आदमी अपूर्व रहने के लिये नहीं है, उसे पूर्णता की ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिये जगद्गति से उपेक्षा शील नहीं हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपने को स्वीकार करके उस जगद्गति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी भांति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधर से निगाह हटाकर

केवल अपने उपर उसे केंद्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहने में भी सिद्धि नहीं है।

तब यही मार्ग है (लाचारी का नहीं, मोक्षका) कि हम घटनाओं को केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हे स्वयं घटित करें। क्या वास्तव के साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नहीं है? यह वास्तव ही घटनाओं में घटित बनकर व्यक्त हो रहा है! तब हमारा व्यक्ति करण भी इन घटनाओं में ही होगा। हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुजारा नहीं; यह मानकर भी नहीं कि वैसा हमें करना चाहिए, बल्कि यह अनुभव करते हुए कि कि कर्म करेंगे कि हम उसके स्रष्टा हैं। परिवर्तन को स्वीकार करने के लिये हम नहीं है। उन परिवर्तनों को संपन्न करने के लिये भी हम है। विकास हो और वह विकास हमें अपने हाथ में लेकर विकसित कर जाये, इसकी प्रतीक्षा करने नहीं बैठना होगा। हम स्वयं विकास में प्रवृत्त होगे और उसे सिद्ध करेंगे। हम स्रष्टा की प्रकृति के समभागी हैं। हम केवल उपादान उपकरण ही तो नहीं है। हम कर्त्ता भी हैं। चीजे बदलती है, वह सदा बदलती रही है, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है। मनुष्य का सत्य यह भी है कि हम चीजों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे। मनुष्य परिवर्तनीय है इसीलिये तो वह परिवर्तनकारी है। मनुष्य विकासशील है, क्यों कि वह विकासशाली है। वह कर्मवेष्टित क्यों है? क्यों कि वह कर्म का स्रष्टा भी ।

एक कुत्ता और एक मैना

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज से कई वर्ष पहले गुरुदेव के मन में आया कि शान्तिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जायँ। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए, या पता नहीं क्यों, तै पाया कि वे श्री निकेतन के पुराने तिमंज़िले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। वे सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे। उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियाँ थीं, और वृद्ध क्षीण-वपु रवीन्द्रनाथ के लिए उस पर चढ़ सकना असम्भव था। फिर भी बड़ी कठिनाई से उन्हें वहां लाया जा सका।

उन दिनों छुट्टियां थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गए थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहां विशेष रूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूँ, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था। तो प्रायः वे यह कह कर मुस्करा देते थे कि 'दर्शनार्थी है क्या ?' शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बंगला में बात करता था, जो वस्तुतः हिन्दी-मुहाविरों का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था—'एक भद्र लोक आपनार दर्शनेर जन्य ऐसे छेन।' यह बात हिन्दी में जितनी प्रचलित है, उतनी बंगला में

नहीं। इसलिए गुरुदेव ज़रा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में पहुंच जाता था तो वे हंसकर पूछते थे—"दर्शनार्थी लेकर आए हो क्या?" यहाँ यह दुख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही इतने प्रगल्भ होते थे कि समय, असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनावस्था को एकदम परवाह नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भयभीत-से रहते थे। सो मैं मय बाल-बच्चों के एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुंचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था।

गुरुदेव वहां बड़े आनन्द में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शान्तिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गए तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यान'स्तमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराए, बच्चों से ज़रा छेड़छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया और उनके पैरों के पास खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। वह आँखें मूंदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा—"देखा तुमने, ये आगए। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ, आश्चर्य है। और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखाई दे रही है?"

हम लोग उस कुत्ते के आनन्द को देखने लगे। किसी ने उसे राह नहीं दिखाई थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेह-दाता यहाँ से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया! इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने "आरोग्य" में इस नाम की एक कविता लिखी थी—'प्रति-दिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक

बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता । इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनन्द का प्रवाह बह उठता है । इस वाक्य हीन प्राणि-लोक में सिर्फ़ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको भेदकर सम्पूर्ण मनुष्य को देख सका है; उस आनन्द को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहैतुक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य लोक में राह दिखा सकती है । जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूं, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव-स्वरूप में कौन-सा मूल्य आविष्कार किया है; इसकी भाषा-हीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती, और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है !" इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव-सत्य को देखा है, जो मनुष्य के अन्दर भी नहीं देख पाता !

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तितल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूंदकर अपरि-सीम आनन्द, वह 'मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन' मूर्तिमान हो जाता है । उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गई है। एक आश्चर्य की बात और इस प्रसंग में उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव की चिताभस्म कलकत्ते से आश्रम में लाई गई, उस समय भी न जाने किस सहज बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शान्त-गम्भीर भाव से उत्तरायण तक गया ! आचार्य क्षितिमोहन सेन सब के आगे थे । उन्होंने मुझे बताया है कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा था !

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों मैं शान्ति-निकेतन में नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना घनिष्ठ नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिए निकला करते थे। मैं एक दिन उनके साथ हो गया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे, और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे भी अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा—"अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गए? उनकी आवाज सुनाई ही नहीं देती!" न तो मेरे साथी उन अध्यापक महाशय को यह खबर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों तक आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रखा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं। एक लेखक ने कौओं की आधुनिक साहित्यिकों से उपमा दी है, क्योंकि इनका मोटो है—'मिस्चीफ़ फ़ार मिस्चीफ्स सेक' (शरारत के लिये ही शरारत)। तो क्या कौओं का प्रवास भी किसी शरारत के उद्देश्य से ही था? प्रायः एक सप्ताह के बाद बहुत कौए दिखाई दिए।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लंगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा—"देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है।" गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुण भाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुभव था कि मैना करुण भाव दिखानेवाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकम्पा ही दिखाया करती है। तीन-चार वर्ष से मैं एक नए मकान

में रहने लगा हूं। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ रखा है—यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक खतरे का समाधान होगा। सो एक-एक मैना-दम्पति नियमित भाव से प्रतिवर्ष यहाँ गृहस्थी जमाया करते हैं। तिनके और चिथड़ों का अम्बार लगा देते हैं। भलेमानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते। हैरान होकर हम सूराखों में ईंटें भर देते हैं; परन्तु वे खाली बची जगह का भी उपयोग कर लेते हैं। पति-पत्नी जब कोई एक तिनका लेकर सूराख में रखते हैं तो उनके भाव देखने लायक होते हैं। पत्नी देवी का तो क्या कहना! एक तिनका ले आईं तो फिर एक पैर पर खड़ी होकर जरा पंखों को फटकार दिया, चोंच को अपने ही परों से साफ कर लिया और नाना प्रकार की मधुर और विजयोद्‌घोषी, वाणी में गान शुरू कर दिया! हम लोगों को तो उन्हें कोई परवा ही नहीं रहती। अचानक इसी समय अगर पति देवता भी कोई कागज का या गोबर का टुकड़ा लेकर उपस्थित हुए तब तो क्या कहना! दोनों के नाच-गान और आनन्द-नृत्य से सारा मकान मुखरित हो उठता है। इसके बाद ही पत्नी देवी जरा हम लोगों की ओर मुखातिब होकर लापरवाही भरी अदा से कुछ बोल देती हैं। पति देवता भी मानो मुस्करा कर हमारी ओर देखते, कुछ रिमार्क करते और मुँह फेर लेते हैं। पक्षियों की भाषा तो मैं नहीं जानता; पर मेरा निश्चित विश्वास है कि उनमें कुछ इस तरह की बातें हो जाया करती हैं—

पत्नी—ये लोग यहाँ कैसे आ गए जी!

पति—उँह, बेचारे आ गए हैं, तो रह जाने दो। क्या कर लेंगे।

पत्नी—लेकिन फिर भी इनको इतना तो ख्याल होना चाहिए कि यह हमारा प्राइवेट घर है।

पति—आदमी जो हैं इतनी अकल कहाँ?

पत्नी—जाने भी दो।

पति—और क्या?

सो इस प्रकार की मैना कभी करुण हो सकती है, यह मेरा विश्वास ही नहीं था। गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है। शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था। या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिड़ाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में ईषत् चोट खाकर एकान्त विहार कर रही है। हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है! शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है—

"उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूं। क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है? पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में। जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो। इसके बाद उसे रोज सबेरे देखता हूं—संगीहीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है। चढ़ आती है बरामदे में। नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे जरा भी नहीं डरती। क्यों है ऐसी दशा इसकी? समाज के किस दण्ड पर उसे निर्वासन मिला है, दल के किस अविचार पर उसने मान किया है? कुछ ही दूरी पर और मैनाएँ बक-झक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं, उड़ती फिरती हैं शिरीष वृक्ष की शाखाओं पर, इस बेचारी को ऐसा कुछ भी शौक नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूँ। सबेरे की धूप में मानो सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बात बिलकुल नहीं जान पड़ती। इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखें भी तो नहीं दिखतीं।" इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करुण मूर्ति अत्यन्त साफ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी

नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आंखें इस विचार के मर्मस्थल तक पहुंच गई, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गई। सांझकाल कवि ने उसे नहीं देखा। जब वह अकेले जाया करती है उस डाल के कोने में; जब झींगुर अंधकार में झनकारता रहता है, जब हवा में बाँस के पत्ते झरझराते रहते हैं, पेड़ों की फांक से पुकारा करता है नींद तोड़ने वाला संध्यातारा!' कितना करुण है उसका गायब हो जाना!

वह चीनी भाई

महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरुनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिन्हों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहे सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एक रूप समष्टि में मुझे एक आर्द्र नीलिमा-मयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियां नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं तांगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कन्धे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तुरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीन कर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया 'मैं विदेशी—फ़ारेन—नहीं खरीदती'। 'हम फ़ारेन है? हम तो चाइना से आता है' कहने वाले कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुक कर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूँछ विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुँची यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!' चीनी भी विचित्र निकला 'हमको भाय बोला है तुम ज़रूर लेगा, ज़रूर लेगा—हां?' होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई—विवश कहना पड़ा 'देखूं तुम्हारे पास है क्या?' चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला

'भोत अच्चा सिल्क आता है सिस्तर! चाइना सिल्क, क्रेप'.......
बहुत कहने सुनने के उपरान्त दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा—चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठ कर गज को फर्श पर बजा बजा कर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—'अब तो मैं कुछ न लूंगी। समझे?' चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला 'सिस्तर का वास्ते हैंकी लाता है—भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।'

देखा कुछ रुमाल थे। ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हे फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आँखों को जल्दी जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक सांस में 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है', दोहराने तिहराने लगा।

मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहां जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में

किस बनावट के फूल-पत्ते, खिलौने आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आंखों पर पट्टी बांध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहां की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा' कहते-कहते चीनी की आंखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था पर कहने सुननेवाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषायें आती थीं जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आंखों के अन्धे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञायें और हिन्दुस्तानी की संज्ञा-हीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था। पर जो कथायें हृदय का बांध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं वे प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी मां के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः मां ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बांधने वाला विधाता मां ही है, इसी से उसे

न मानकर संसार को न मानना सहज है पर संसार को मानकर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्यों कि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते न रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट दे कर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कम्पित उंगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आंसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे आंख मूंद कर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में अपनी ठिठुरी हुई उंगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आंसू की बड़ी बूंद देख कर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहना नहीं चाहिए वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहां रकाबियां धोकर और काम के बदले भात मांग कर बहिन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौनसी अन्तिम मात्रा ने बहिन के नन्हे हृदय का बांध तोड़ डाला इसे अबोध बालक क्या जाने। पर एक रात उसने बिछौने पर लेट कर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आंख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उंगली ने दौड़-दौड़ कर लाली फेरी, उसके

फीके गालों पर चौड़ी हथेली घूम-घूम कर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेर कर संवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई—कब वह रोते रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहिन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रख कर सिसकियां रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े; तीसरे दिन खिलोने—पर बहिन के दिनों दिन विवर्ण होने वाले ओटों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति पट पर मा की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में संदेह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुंच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जायगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी।

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसीसे बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आने वालों से हकला हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़ कर बाहर ही छोड़ आया, इस भूल

की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहिन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीर वाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथों से बटुये का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों के त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं। सबेरे विमाता को कुछ चिन्तित भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और अब बहिन भी खो गई। वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती उसमें दिन को उसे पहिचान सकना कठिन था, इसीसे वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुँचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा सा लड़का भी पागल हो गया है?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रख कर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाकू के धुयें और दुर्गन्धित सांस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हंसने रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और

हँसने रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि जरा मुंह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूंदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर रेखा बनाती और मुंह के दोनों सिरों को छूती हुई ठुड्ढी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर, रोओं से काले उदर पर पीलासा रंग बांधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछल कर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल वर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था इसीसे 'चोरों की बरात में अपनी अपनी होशयारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का स्नेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर सन्देह की ऐसी दृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान कांपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी, उसका स्मरण करके चीनी की आखें आज भी व्यथा और अपमान से धक धक जलने लगती थीं।

सब के खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह जगह जले हुए कागज से ढककर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गए तक उसके नरक के साथी एक एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ

लौटता है वह खाली हाथ है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम धम पैरों रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बांधते बांधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जो बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देखभाल कर लेना और लौटते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्यायें एक सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को ढूंढने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्म-हत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही

नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहां शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सबेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छायें हैं, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूंढ लेने की—जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार देखते देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझ कर हंस पड़ी। धीरे धीरे पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिये चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहां बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूं तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी संकोच हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिये प्रश्न किया 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं फिर बुलावा किसने भेजा?' चीनी की आंखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गईं—'हम कब बोला हमरा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?' मुझे स्वयं

अपने प्रश्न पर लज्जा आई ; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा !

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या। पर कुछ अपने पास खोज ढूंढ कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चञ्चल पैरों से जाने लगा तब मैंने पुकार कर कहा 'यह गज तो लेते जाओ'—चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं, उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई बहिन मेरे स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना बनाकर खर्च कर चुकी हूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी आलमारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर एक खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीदकर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती' तब मैं बड़े कष्ट से हंसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृ हीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुंचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

द्वितीय-खण्ड

(पद्य-भाग)

पुरातन

कबीर

साखी

तेरा साँई तुझ में ज्यों पुहुपनमें बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूँढे घास ॥१॥
ज्यों तिल माहीं तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साँई तुझ में जागि सकै ते जागि ॥२॥
आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह ॥३॥
लूट सकै तो लूटि ले सत्त नाम की लूटि।
पाछे फिर पछताहुगे प्रान जाहिं जब छूटि ॥४॥
गुरु गोविन्द दोऊ खरे काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय ॥५॥
यह तन बिष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै तो भी सस्ता जान ॥६॥
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं ॥७॥
साधू ऐसा चाहिये जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय ॥८॥
कामी, क्रोधी, लालची, इनमें भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोय ॥९॥

प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय ।
कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥१०॥
दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे तो दुख काहे को होय ॥११॥
कबिरा यह जग कछु नहीं, खिन खारा खिन मीठ ।
काल जु बैठा मोड़ियाँ, आज मसाणा दीठ ॥१२॥
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूंदै मोय ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूंदूगी तोय ॥१३॥
माली आवत देखि के, कलियाँ करत पुकार ।
फूली-फूली चुनि लई, कलि हमारी बार ॥१४॥
कबिरा गर्ब न कीजिए, काल गहे कर केस ।
ना जानों कित मारि है, क्या घर, क्या परदेस ॥१५॥
केसन कहा बिगारिया, जो मूँड़ौ सौ बार ।
मन को काहे न मूँड़िये, जामें विषय विकार ॥१६॥
मन के हारे हार हैं, मन के जीते जीत ।
कह 'कबीर' प्यो पाइये, मन ही की परतीति ॥१७॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥१८॥
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटन को उत्पात ।
कहा विष्णु को घटि गयौ, जो भृगु मारी लात ॥१९॥
जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप ॥२०॥

सबद

(१)

साधो यह तन ठाठ तँबूरे का।
खेंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का।
टूटे तार बिखरि गई खूँटी हो गया धूरमधूरे का॥
या देही का गरब न कीजै उड़ि गया हंस तंबूरे का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो अगम पन्थ कोई सूरे का॥

(२)

पानी बिच मीन पियासी, मोहि सुन सुन आवत हाँसी।
आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी॥
घर में वस्तु धरी नहिं सूझै, बाहर खोजत जासी॥
मृग की नाभि माहिं कस्तूरी, बन बन खोजत जासी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो सहज मिलै अबिनासी॥

(३)

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दशरथ को बन में बिपति परी॥
कहँ वह फंद कहँ वह पारधि कहँ वह मिरगचरी।
सीता को हरि लैग्यो रावन सुबरन लंक जरी॥
नीच हाथ हरिचंद बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरगिट जोन परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गरब घटाया जदुकुल नास करी॥
राहु केतु औ भानु चन्द्रमा बिधि-संजोग परी।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो होनी हो के रही॥

नानक

दोहे

हिरदे जिनके हरि बसैं, से जन कहि यहि सूर ।
कही न जाइ "नानका" पूरि रहया भरपूर ॥१॥
हरि पढ़ना हरि बूझना हरि सों रहहु पिआर ।
हरि जपिये हरि ध्याइये हरि का नाम अधार ॥२॥
मन जूठे तन जूठ है जिह्वा जूठी होय ।
मुख झूठ झूठ बोलना क्यों कर सूचा होय ॥३॥
जो दरसै सो चाल ही किसको मीत करेव ।
जीउ समर्पों आपना तन मन आगे देव ॥४॥
नानक गुरुमुख पाइये हरिसों प्रीति पिआर ।
गुरु बिन किन सुख पाइया देखहु मन बीचार ॥५॥
मन की दुबिधा न मिटे मुक्ति कहां ते होइ ।
कउढ़ी बदले 'नानका' जनम चल्या नर खोइ ॥६॥
आपै गुण आपै कथै आपै सुनि विचार ।
आपै रतन परखि तू आपै मातु अपार ॥७॥
सांचौ मान महत्त तू आपै देवन हार ।
ज्यों भावै त्यों राख तू (हरि) नाम मिले आचार ॥८॥
विषयन सों काहे रच्यौ निमिष न होय उदास ।
कहि नानक भजु हरि मना परै न जम की फांस ॥९॥
जागो रे जिन जागना ? अब जागन की बार ।
फेरि के जागो 'नानका' जब सोवहु पांव पसार ॥१०॥

पद

(१)

मन की मनहीं मांहि रही।
ना हरि भजे न तीरथ सेये, चोटी काल गही॥
दारा मीत पूत रथ संपति, धन जन पूर्न मही।
और सकल मिथ्या जानो, भजना राम सही॥
फिरत-फिरत बहुते जुग हार्यो, मानस देह लही।
'नानक' कहत मिलनकी बिरियां, सुमिरत कहा नहीं॥
गुरु गोविंद गायो नहीं, जनम अकारथ कीन।
'नानक' भजुरे हरि मया जेहि बिन जल को मीन॥
विषयन सों काहे रच्यो, निमिष न होय उदास।
कहि नानक भजु हरि मना, परे न जम की फांस॥२॥

(२)

साधो मन का मान त्यागो।
काम क्रोध संगति दुर्जन की, ताते अहनिस भागो॥
सुख-दुःख दोनों सम करि जाने और मान अपमाना।
हर्ष शोक ते रहे अतीता तिन जग तत्त पिछाना॥
अस्तुत निन्दा दोउ तिआगे खोजे पद निरबाना।
जग 'नानक' यह कठिन है किनहूं गुरुमुख जाना॥

विद्यापति

वसंत-वर्णन

(१)

चलि देखिए जाऊ रितुबसंत ।
जहाँ कुंद कुसुम केतकि हसंत ॥
जहाँ चंदा निरमल भमर कार
जहाँ रयनि उजागर दिन अँधियार ॥
जहाँ मुगुधिल मानिनि करए मान ।
परि पंथहि पेखए पंचबान ॥
भनइ सरस कवि-कंठ-हार ।
मधुसूदन राधा बन बिहार ॥

(२)

मधुरितु मधुकर पाँति । मधुर कुसुम मधुमाँति ॥
मधुर वृन्दावन माँझि । मधुर-मधुर रससाज ॥
मधुर जुबति जन संग । मधुर-मधुर रसरंग ॥
मधुर मृदंग रसाल । मधुर मधुर करताल ॥
मधुर नटन-गति भंग । मधुर नटनी नट संग ॥
मधुर मधुर रस गान । मधुर विद्यापति भान ॥

विनय

हर जनि बिसरब मो ममिता ।
हम नर अधम परम पतिता ॥१॥
तुअ सन अधम उधार न दोसर
हम सन जग नहि पतिता ॥२॥
जम के द्वार जबाब कओन देब ।
जखन बुझत निजगुन कर बतिया ॥३॥

अब जम किंकर कोपि पठाएत ।
तखन के होत धरहरिया ॥४॥
भय विद्यापति सुकवि पुनीत मति ।
संकर बिपरीत बानी ॥५॥
अबरन सरन चरन सिर नाओल ।
दया करु दिअ सुयतानी ॥६॥

गंगा–स्तुति

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे ।
छोड़इत निकट नयन बह नीरे ॥१॥
कर जोर विनमओं विमल तरंगे ।
पुन दरसन होए पुनमति गंगे ॥२॥
एक अपराध छेमब मोर जानी ।
परसल माय पाए तुअ पानी ॥३॥
कि करब जप-तप जोग धेआने ।
जनम कृतारथ एकहि सनाने ॥४॥
भनइ विद्यापति समदओं तोही ।
अन्त काल जनु विसरह मोही ॥५॥

सूरदास

विनय

(१)

चरण कमल बन्दौ हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरशाई ॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुणामय बार बार बन्दौं तेहि पाई ॥१॥

(२)

प्रभु मेरे औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तिहारो अपने पनहिं करौ॥
एक लोहा पूजा में राखत एक घर-बधिक परौ।
यह अन्तर पारस नहिं जानत कंचन करत खरौ॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरौ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन में सुरसरि नाम परौ॥
एक जीव एक ब्रह्म कहावत 'सूरस्याम' झगरौ।
अबकी बेर मोहि पार उतारौ नहिं पन जात टरौ॥२॥

(३)

आज हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमही, कै तुमहीं माधव ! आपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतित ह्वै निसतरिहौं।
अब हौं उघरि नयन चाहत हौं, तुम्हें बिरद-बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि-हीरा।
'सूर' पतित तब हीं लै उठि हौं जब हँसि दै दो बीरा॥३॥

बाल चरित्र

(४)

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगि सों आवै, तो कों कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, अधर कबहुँ फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै बैठी, करि करि सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नंद भामिनि पावै॥४॥

(५)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किनिक बार मोहिं दूध पियत भइ, कह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों, ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत पोंछत, नागिन-सी भइ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि पचि, देत न माखन रोटी।
सूर श्याम चिरजीवो दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी॥५॥

(६)

मैया मेरी, मैं नाहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुवन मोहिं पठायो।
चार पहर बंशीवट भटक्यौ, साँझ परे घर आयो॥
मैं बालक बहियन को छोटौ, छींका कहि बिधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं' बरबस मुख लपटायो॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है जानि परायो जायो॥
यह लौ अपनी लकुट कमरिया बहुतहिं नाच नचायो।
सूरदास तब बिहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायो॥६॥

उद्धव-संदेश

(७)

बिलग जनि मानहु, ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमल-नैन अनियारे॥
मानहुँ नीता मांट तें काढ़े जमुना-जल जु पखारे
ता गुन श्याम भई कालिन्दी 'सूर' श्याम गुन न्यारे॥७॥

(८)

ऊधौ मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतौ सो गयो स्याम-संग को आराधै ईस ?
भई अति शिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिनु-सीस।
स्वासा अटकि रहै आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्याम-सुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास करि रस की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ॥८॥

(९)

ऊधो, इतनी कहियो जाइ।
अति कृस गात भई हैं तुम बिन परम दुखारी गाइ ॥
जल-समूह बरसति दोउ आखें हूँकति लीन्हें नाँव।
जहाँ जहाँ गो-दोहन कीन्हों, सूँघत सोई ठाँव ॥
परत पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी हैं बारि मध्य तें मीन ॥९॥

(१०)

कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम, तुम बिनु उन लोगनि जैसें दिवस बिहात ॥
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वै मलिन बदन कृस गात।
परमदीन जनु सिसिर-हिमी हत अंबुज-गन बिनुपात ॥
जो कहुँ आवत देख दूर तें पूछत सब कुसलात।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, का चरननि लपटात ॥
पिक चातक बन बसन न पावहिं बायस बलिहिं न खात।
सूर, स्याम संदेसनि के डर पथिक न उहि मग जात ॥१०॥

तुलसीदास

दोहे

राम-नाम-मनि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जौ चाहसि उजियार ॥१॥
रे मन सब सों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि।
भलौ सिखावन देत हैं, निसि दिन तुलसी तोहि ॥२॥
तुलसी श्री रघुवीर तजि, करै भरोसो और।
सुख संपति की का चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥३॥
राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत वारिद-बूंद गहि, चाहत चढ़न अकाश ॥४॥
ज्यों जग बैरी मीन को, आयु सहित बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुवीर बिनु, गति अपनी विचारि ॥५॥
जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरन छा तीन।
'तुलसी' देखु बिचारि-हिय, है यह मतौ प्रबीन ॥६॥
'तुलसी' असमय के सखा, साहस धर्म-बिचार।
सुकृती, सील, सुभाव रिजु, राम-चरन आधार ॥७॥
'तुलसी' साथी बिपति के, विद्या, विनय, विवेक।
साहस, सुकृत, सुसत्य-व्रत, राम भरोसो एक ॥८॥
आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
'तुलसी' तहाँ न जाइये, कंचन बरसै मेह ॥९॥
'तुलसी' जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय ॥१०॥
'तुलसी' सन्त सुअम्ब तरु, फूलि फरहिं पर हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥११॥
तुलसी काया खेत है, मनसा भयौ किसान।
पाप-पुन्य दोउ बीज हैं, बुवै सो, लुनै निदान ॥१२॥

नीच चंग-सम जानिये, सुनि लखि 'तुलसीदास'।
ढील देत महि गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास ॥१३॥

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँडे घर जाय।
तुलसी घर बन-बीच रहु, राम प्रेम-पुर छाय ॥१४॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुं जीव न लह बिश्राम ॥१५॥

भरत कौशल्या संवाद

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई।
कौसल्या लिए हृदय लगाई ॥
भांति अनेक भरतु समुझाए।
कहि बिवेकमय बचन सुनाए ॥
भरतहुं मात सकल समुझाई।
कहि पुराण श्रुति कथा सुहाई ॥
छल बिहीन सुचि सरल सुबानी।
बोले भरत जोरि जुग पानी ॥
जे अघ मात पिता सुत मारें।
गाइगोठ महि-सुर-पुर जारें ॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें।
मीत महीपति माहुर दीन्हे ।
जे पातक उदपातक अहहीं।
करम-बचन-मन-भव कवि कहहीं ॥
जे पातक मोहि होहु बिधाता।
जौ एहु होइ मोर मत माता ॥

जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कै गति मोहि देउ बिधि जौ जननी मत मोर ॥

बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं ।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं ।।
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी ।
बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ।।
लोभी लम्पट लोलुपचारा ।
जे ताकहिं पर धनु पर दारा ।।
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा ।
जौं जननी एहु संमत मोरा ।।
जे नहिं साधु संग अनुरागे ।
परमारथ-पथ बिमुख अभागे ।।
जे न भजहिं हरि नर तनु पाई ।
जिन्हहिं न हरिहर-सुजसु सुहाई ।।
तजि श्रुतिपंथ बामपथ चलहीं ।
बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं ।।
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ ।
जननी जौं एहु जानौं भेऊ ।।
मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभाय ।
कहति राम-प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय ।।
राम प्रान ते प्रान तुम्हारे ।
तुम्ह रघुपतिहि प्रान ते प्यारे ।।
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी ।
होइ बारिचर बारि-बिरागी ।।
भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू ।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू ।।
मत तुम्हार एहु जो जग कहहीं ।
सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं ।।

अस कहि मातु भरतु हिय लाए।
थनपय स्रवहिं नयन जल छाए॥

कवितावली

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू धरि
धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक,
पर्न-कुटी करि हौ कित ह्वै?
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै॥

मीरा

(१)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरत सांवली सूरत, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भगत-बछल गोपाल॥१॥

(२)

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की।
चरनन बिन कछुवै नाहिं भावै, जग माया सब सपनन की।
भवसागर सब सूखि गयो है, फिकर नहीं मोहि तरनन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आस वही गुरु सरनन की॥२॥

(३)

हरि तुम हरो जन की पीर।
द्रोपदी की लाज राख्यो तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धरयो आप सरीर।
हरिनकस्यप मार लीन्हो धरयो नाहिन धीर।
बूढ़ते गजराज राख्यो कियो बाहर नीर।
दास 'मीरा' लाल गिरधर दुख जहां तहं पीर ॥

(४)

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरे पति सोई॥
छोड़ दई कुल की कान कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई ॥
असुवन-जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आनन्द फल होई ॥
भगत देखि राजि हुई, जगत देखी रोई।
दासी 'मीरा' लाल गिरधर तारो अब मोई ॥

(५)

मैं गोविन्द के गुण गाणा।
राजा रूठे नगरो राखै, हरि रूठयां कहं जाणा।
राणां रूठे जहर पिलाया, इमिरत करि पी जाणा ॥
डबिया में भेज्या भुजंग, सालिगराम कर जाणा।
'मीरा' तो अब प्रेम दिवाणी, सांवलिया वर पाणा ॥

(६)

पीया बिनि रह्यो न जाइ।
तन मन मेरो पिया पर वारूं, बार बार बलि जाइ ॥
निसि दिन जोऊं बाट पिया की, कबर मिलोगे आइ।
मीरा के प्रभु आसि तुमारी, लीज्यो कंठ लगाइ ॥

(७)

करम गति टारे नाहिं टरे।
सतवादी हरिचन्द से राजा सो तो नीच घर नीर भरे॥
पांच पांडु अरु सती द्रोपदी, हाड़ हिमालै गरे।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासन, सो पाताल धरे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बिख से अम्रित करे॥

रहीम

संतत संपति जानि कै, सब को सब कोई देय।
दीनबन्धु-बिनु दीन की, को 'रहीम' सुधि लेय॥१॥
समय-दसा-कुल देखि कै, लोग करत सनमान।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान्॥२॥
कैसे छोटे नरनि तें, सरत बड़ेनि के काम।
मढ़्यो दमामा जात क्यों, लै चूहे के चाम॥३॥
जे 'रहीम' बिधि बड़ किये, को कहि दूषन काढ़ि।
चन्द दूबरो कूबरो, तऊ नखत तें बाढ़ि॥४॥
प्रीति-रीति सबसों भली, बैर न हित-मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत॥५॥
गुनी गुनी सब कोई कहत, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यौ कहूँ तरु अर्क तें, अर्क समान उदोत॥६॥
बुरौ बुराई जो तजै, तौ मन खरौ सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनै लोग उतपात॥७॥
कदली सीप भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन॥८॥
खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति मदपान।
'रहिमन' दाबे न दबैं, जानत सकल जहान॥९॥

गरज आपनी आप सों, रहिमन कही न जाय।
जैसे कुल की कुलवधू, पर घर जात लजाय ॥१०॥
जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजिआरे लगे, बढ़े अँधेरो होय॥११॥
कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग, इहि पाये बौराय ॥१२॥
जे "रहीम" उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग ॥१३॥
यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।
बाँटनवारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रंग ॥१४॥
कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम ॥१५॥
सब कोऊ सब सों करैं, राम जुहार सलाम।
हित रहीम तब जानिए, जा दिन अटकै काम ॥१६॥

वृन्द कवि

स्वारथ के सबही सगे बिन स्वारथ कोउ नाहिं।
जैसे पंछी सरस तरु निरस भए उड़ि जाहिं ॥१॥
जाही तैं कछु पाइयै करियै ताकी आस।
स्वाति बूँद बिनु सघन में चातक मरत पियास ॥२॥
रहे समीप बड़ेन के होत बड़ौ हित मेल।
सब ही जानत बढ़त है वृक्ष बराबर बेल ॥३॥
मान होत है गुननि तें, गुन बिन मान न होइ।
सुक सारी राखैं सबै काग न राखै कोइ ॥४॥
साँच झूठ निरनै नीतिनिपुन जो होय।
राजहंस बिन को करै छीर नीर को दोय ॥५॥

कहा करै कोऊ जतन, प्रकृत न बदलै कोय ।
सानै सदा सनेह में जीभ न चिकनी होय ॥६॥
कलुष भाव देखै जहाँ उत्तम जन न रहाँय ।
जैसे पावस तजि अनत राजहंस उड़ि जाँय ॥७॥
मूरख गुन समझै नहीं तौ न गुनी में चूक ।
कहा भयौ दिन को विभौ देखै जो न उलूक ॥८॥
दीबो अवसर को भलो, जासों सुधरै काम ।
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम ॥९॥
अपनी पहुँच बिचारिकै, करतब करिये दौर ।
तेतो पांव पसारिये जेती लांबी सौर ॥१०॥
विद्या-धन उद्यम बिना, कहौ जु पावै कौन ।
बिना डुलाये ना मिलै, ज्यों पंखा को पौन ॥११॥
नैना देत बताय सब, हिय की हेत अहेत ।
जैसे निरमल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥१२॥
भले बुरे जंह एक से, तहां न बसिये जाय ।
ज्यों अन्यायपुर में बिकै, खर गुर एकै भाय ॥१३॥
भले बुरे सब एक सों, जौ लों बोलत नाहिं ।
जान परत है काक पिक, ऋतु बसन्त के माहिं ॥१४॥
मधुर बचन तें जात मिट, उत्तम जन अभिमान ।
तनिक सीत जलसों मिटै, जैसे दूध उफान ॥१५॥

गिरधर कविराय

(१)

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुने सब कोय ॥

शब्द सुने सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन ॥
कह गिरधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मनके ।
बिन गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के ॥

(२)

साईं अवसर के परे, को न सहत दुख द्वन्द ।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द ॥
वे राजा हरिचन्द, करै मरघट रखवारी ।
धरे तपस्वी भेष, फिरे अर्जुन बलधारी ॥
कह गिरधर कविराय, तपै वह भीम रसोई ।
को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं ॥

(३)

साईं सब संसार में, मतलब का व्यवहार ।
जब लगि पैसा गांठ में, तब लगि ताको यार ॥
तब लगि ताको यार, यार संग ही संग डोलै ।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै ॥
कह गिरधर कविराय, जगत की याही लेखा ।
करै बेगरजी प्रीति, यार हम बिरला देखा ॥

(४)

झूठा मीठा बचन कहि, ऋण उधार ले जाय ।
लेत परम सुख ऊपजे, लैके दियो न जाय ॥
लैके दियो न जाय, ऊंच अरु नीच बतावै ॥
ऋण उधार की रीति, मांगते मारन धावै ।
कह गिरधर कविराय, रहे जन मन में रूठा ।
बहुत दिनां ह्वै जाय, कहै तेरा कागद झूठा ॥

(५)

बिना बिचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगारे आपनो जग में होत हंसाय ॥
जग में होत हंसाय, चित में चैन न पावै ।
खान पान सम्मान, राग रंग मनहिं न भावै ॥
कह गिरधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे ।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना बिचारे ॥

(६)

सांई अपने चित्त को, भूलि न कहिये कोय ।
तब लग मन में राखिहो, जब लग कारज होय ॥
जब लग कारज होय, भूल कबहु न कहिये ।
दुर्जन तातो होय, आप सोरे ह्वै रहिये ॥
कह गिरधर कविराय, बात चतुरन के तांई ।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं सांई ॥

(७)

बीती ताहि बिसारदे आगे की सुध लेय ।
जो बनि आवे सहज में ताहि में चित देय ॥
ताहि में चित देय बात जोई बनि आवै ।
दुर्जन हंसे न कोय चित में खेद न पावै ॥
कह गिरधर कविराय यहै कर मन परतीती ।
आगे को सुध होय, समझ बीती सो बीती ॥

(८)

सांई अपने भ्रात को कबहुं न दीजै त्रास ।
पलक ओट न कीजिये सदा राखिए पास ॥
सदा राखिए पास त्रास कबहूं न दीजै ।
त्रास दियो लंकेश तासु की गति सुन लीजै ॥

कह गिरधर कविराय राम सौ मिथिलो जाई।
पाय विभीषण राज लङ्कपति बाजौ साईं॥

(९)

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकुस और कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुश्मन दावादार भये महिमण्डल सिगरे॥
कह गिरधर कविराय उन्हें काहू न बताई।
पिता पुत्र की रार लाभ एकौ नहीं साईं॥

(१०)

साईं नदी समुद्र को मिली बड़प्पन जान।
याति नास भी मिलत ही मान महत की हानि॥
मान महत की हानि कहो अब कैसी कीजै।
जल खारी ह्वै गयो ताहि कहु कैसे पीजै॥
कह गिरधर कविराय मच्छ और कच्छ सकुचाई।
बड़ी फजीहत होय तबै नदियन की साईं॥

× × ×

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र

यमुना-छवि

(१)

तरनि - तनूजा - तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल - परसन - हित मनहु सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निजसोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल - लोभा॥
मनु आतप - वारन तीर कौं, सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन-मन सुख लहत॥

(२)

कहूँ तीर पर कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमगे - प्रिया - प्रिय-प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करकै कर बहु पीय कौं, टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन कौ उपचार लै, चलति मिलन मन मोहई॥

(३)

कै पिय पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन-मिस अस्तुति उच्चारत॥

कै ब्रज-तिय-गन-बदन-कमल की झलकति झाईं ।
कै ब्रज - हरि - पद - परस-हेत, कमला बहु आईं ॥
कै सात्विक, अरु अनुराग दोउ, ब्रज-मंडल बगरे फिरत ।
कै जानि लच्छिमी भौन यहि, करि सतधा निसि जल-धरत॥

(४)

तिन पै जेहि छिन चंद-जोति राका-निसि आवति ।
जल मैं मिलि कै नभ-अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल जल-ओभा ।
तन, मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा ॥
सो को कबि जो छबि कहि सकै, ताछन जमुना-नीर की ।
मिलि अवनि और अम्बर रहति, छबि इकसी नभ-तीर की ॥

(५)

परत चंद-प्रतिबिंब कहूँ जल-मधि चमकायौ ।
लोल लहरि मैं लचत कबहुँ सोई मन भायौ ॥
मनु हरि - दरसन-हेत चन्द जल बसत सुहायौ ।
कै तरंग-कर मुकुर लिये सोभित छबि छायौ ॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट - आभा जल दिखरात है ।
कै जल-उर हरि मूरति बसति, ता प्रतिबिंब लखात है ॥

(६)

कबहुँ होत सत चन्द, कबहुँ प्रगटत, दुरि भाजत ।
पवन-गवन-बस बिंब-रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ।
कै तरंग की डोर - हिंडोरनि करत किलोलैं ॥
कै बाल गुड़ी नभ मैं उड़ी, सोहत इत-उत धावती ।
कै अवगाहत डोलत कोऊ, ब्रज - रमनी जल आवती ॥

(७)

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागन ठगत, लुकत, प्रकटत ससि अबिकल॥
कै कालिंदी-नीर तरंग-जिते उपजावत।
तितनेई धरि रूप मिलन-हित तासौं धावत॥
कै बहुत रजत, चकई चलत, कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसि-पति मल्ल अनेक बिधि, उठि बैठत, कसरत करत॥

(८)

कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त, कहूँ जल कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पै नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पंछी करत।
जल-पान, न्हान करि सुख-भरे, तट-सोभा सब जिय धरत॥

(९)

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जवल झलकत रजत-सीढ़ि मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम-हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये।
रतन-रासि की चूर कूल मैं मनु बगराये॥
मनु मुक्त-माँग सोभित भरी, स्याम नीर-चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै नीर मैं, ब्रज-निवास लखि हिय हरषि॥

श्रीधर पाठक

सुसन्देश

अहो छात्र वर वृन्द, नव्य-भारत-सुत प्यारे।
मातृ गर्व-सर्वस्व मोद-प्रद, गोद-दुलारे॥

अहो भव्य भारत भविष्य निधि के उजियारे।
शुभ आशा विश्वास व्योम के रवि, विधु, तारे॥
गृह-जीवन-नव-ज्योति, प्रेम के प्रकृत स्रोत तुम।
विनय-शील उद्योत, जगत के सुकृत-स्रोत तुम॥
मातृभूमि के प्राण, मातृ-सुख-संप्रदान तुम।
मातृ-सत्व संत्राण-कुशल, भुज-बल-विधान तुम॥
आर्य वंश-अक्षय-वट के अभिनव प्रवाल तुम।
आर्य-संत-जीवन-पट के शुचि तंतु-जाल तुम॥
आर्य-वर्ण-आश्रम-उपवन के फल रसाल तुम।
आर्य-कीर्ति-तंत्री-गुण के स्वर, शब्द, ताल तुम॥
निज सुजन्म-संतति-सरोज-वन के मृणाल तुम।
मानव-कुल-मानस-ह्रद के मंजुल मराल तुम॥
जग-सुकृत्य-रत भारत के सौभाग्य-भाल तुम।
प्रिय स्वदेश अंतर आत्मा के अन्तराल तुम॥
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज, सुप्रेरित-मति विशाल तुम।
सुघर सुपूत सुमाता के लाडले लाल तुम॥
भारत लाज जहाज सुदृढ़-सुठि-कर्णधार तुम।
भारत-कंठ-विहार विशद-मंदार-हार तुम॥
निज-अभिरुचि-निज-भाषा - भूषा - भेष - विधाता।
निज सत्ता, निज पौरुष, निज स्वत्वों के त्राता॥
निज-परता-भ्रम-रहित करौ निज हित-विचार तुम।
हित-परता-क्रम-सहित-करौ पर-हित प्रचार तुम॥
सत-सेवा-व्रत धार जगत के हरौ क्लेश तुम।
देश-देश में करौ प्रेम का अभिनिवेश तुम॥
इस विधि से निस्संग करौ सेवा-प्रसंग तुम।
फिर-फिर पर-हित-हेतु भरौ उर में उमंग तुम॥

सब विधि यों शुभ-वृन्द बनी नर-प्रवर बन्द्य तुम ।
त्यों हरि-पद-अरविंद-भ्रमर सुनि समभिनद्य तुम ॥

देश-गीत

(१)

जय जय प्यारा भारत देश ।
जय जय प्यारा, जग से न्यारा,
शोभित सारा, देश हमारा ।
जगत-मुकुट जगदीश - दुलारा,
जय सौभाग्य सुदेश ।
जय जय भारत प्यारा देश ॥

(२)

प्यारा देश जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष ।
जहां न सम्भव अघ का लेश,
सम्भव केवल पुण्य - प्रवेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ॥

(३)

स्वर्गीय शीश-फूल पृथ्वी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोक त्रयी का,
सुललित प्रकृति नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ॥

(४)

जय जय शुभ्र हिमालय-शृङ्गा,
कल - रव निरत कलोलिन गङ्गा,
भानु - प्रताप - चमत्कृत अङ्गा,

तेज - पुञ्ज तप - वेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ॥

(५)

जग में कोटि कोटि युग जीवै,
जीवन - सुलभ अमी-रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,
रहै स्वतन्त्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत देश ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

सच्चे वीर

(१)

संकटों की तब करे परवाह क्या,
हाथ झंडा जब सुधारों का लिया।
तब भला वह मूसलों को क्या गिने,
जब किसी ने ओखली में सर दिया ॥

(२)

दूसरों को उबार लेते हैं,
एक दो बीर ही विपद में गिर।
पर बहुत लोग पाक बनते हैं,
ठीकरा फोड़ दूसरों के सिर ॥

(३)

सामने पाकर विपद की आँधियाँ,
वीर मुखड़ा नेक कुम्हलाता नहीं।
देखकर आती उमड़ती दुख-घटा,
आंख में आंसू उमड़ आता नहीं ॥

(४)

सब दिनों मुंह देख जीवट का जिये,
लात अब कायरपने की क्यों सहें।
क्यों न बैरी को विपद में डाल दें,
हम भला क्यों डालते आंसू रहें॥

(५)

वे कभी बात में नहीं आते,
लग गई है जिन्हें कि सच्ची धुन।
वे भला आप सूख जाते क्या,
मुख न सूखा जवाब सूखा सुन॥

(६)

काल की परवाह वीरों को नहीं,
वह रहे उनको भले ही लूटता।
काम छेड़ा छूटता छोड़े नहीं,
टूटता है दम रहे तो टूटता॥

शक्ति

जिसे है मानवता का ज्ञान,
नहीं पशुता से जिसकी प्रीति;
बिना त्यागे विनयन का पंथ,
लोक-नियमन है जिसकी नीति।
क्रोध जिसका है शांति-विहीन;
लोभ जिसका लालसा-विहीन;
मोह जिसका है महिमावान;
काम जिसका अकामनाधीन।
न मन में मादकता का मान,
न तन में अतन-ताप का लेश;

रूप जिसका है लोक-ललाम,
अवनि-रंजन है जिसका वेश।
न मस्तक पर कलंक का अंक,
न जिसका लहू भरा है हाथ;
विहरती रहती है सब काल,
लोक-लालनता जिसके साथ।
जलद-सम कर जन-जन को सिक्त,
रस बरसती जिसकी अनुरक्ति;
भरा है जिसमें सब का प्यार,
वही है विश्व-विजयिनी शक्ति।

मैथिलीशरण गुप्त

वही मनुष्य

(१)

विचार लो कि मर्त्य हो न मृत्यु से डरो कभी,
मरो परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी।
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो जिया आपके लिये।
यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।

(२)

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा कृतार्थ भाव मानती।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति गूंजती,
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती।
अखण्ड आत्म-भाव जो असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

(३)

क्षुधार्थ शान्ति देव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया परमार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर क्षितीश ने स्वमांस दान भी दिया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर-चर्म भी दिया।
अनित्य देह के लिये अनादि जीव क्या डरे?
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

(४)

सहानुभूति चाहिये महाविभूति है यही,
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही।
विरुद्धवाद बुद्ध का दया-प्रवाह में बहा,
विनीत लोकवर्ग क्या न सामने झुका रहा?
अहा! वही उदार है परोपकार जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

(५)

रहो न भूल के कभी मदान्ध तुच्छ वित्त में,
सनाथ जान आपको करो न गर्व चित्त में।
अनाथ कौन है यहां त्रिलोकनाथ साथ हैं,
दयालु दीनबन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं।
अतीव भाग्यहीन है अधीर भाव जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

(६)

अनन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्वबाहु जो बढ़ा रहे बड़े-बड़े।
परस्परावलम्ब से उठो तथा बढ़ो सभी,
अभी अमर्त्य-अङ्क में अपङ्क हो चढ़ो सभी।

रहै न यों कि एक से न काम और का सरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे ॥

(७)

"मनुष्य मात्र बन्धु हैं" यही बड़ा विवेक है,
पुराणपुरुष स्वयम्भू पिता प्रसिद्ध एक है ।
फलानुसार कर्म्म के अवश्य बाह्य भेद हैं,
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाणभूत वेद हैं ।
अनर्थ है कि बन्धु ही न बन्धु की व्यथा हरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे ॥

(८)

चलो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुये,
विपत्ति विघ्न जो पड़े उन्हें ढकेलते हुए ।
घटे न हेल मेल हां, बढ़े न भिन्नता कभी ।
अतर्क एक पन्थ में सतर्क पन्थ हों सभी ।
तभी समर्थभाव है कि तारता हुआ तरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे ॥

एक फूल

मेरे आंगन का एक फूल !
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ,
संसार-बिटपि से खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल !
मेरे आंगन का एक फूल !
उषा ने अपना उदय किया,
दीपक ने निज निर्वाण लिया,
मुझको मारुत ने जगा दिया,

देखा कि दे गया हृदय शूल,
मेरे आंगन का एक फूल !
वह रूप कहां, वह रंग कहां,
हिलने डुलने का ढंग कहां,
हो गया हरे ! रस-भंग यहाँ,
उड़ गई गंध की हाय ! धूल
मेरे आंगन का एक फूल !

आगे

फिरें स्वयं भय भागे,
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !
बीत गया है वह अतीत तो,
किसके लिए रुका तू ?
पीछे छूट गया जो, उसका
रस तो लूट चुका तू !
पाकर नई अतृप्ति निरंतर
नये पाठ पढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !
आगे अंधकार तो पीछे
अस्ताचल की लाली,
क्रम क्रम से गिरती है उस पर
अमिट यवनिका काली !
पर देखे हैं सभी दृश्य वे
आ, रहस्यमय आगे ।
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !
गिर गिर कर ही तो सँभलेगा
अटकेगा—भटकेगा,

तभी लगेगा न तू ठिकाने,
तब भूले—भटकेगा।
उठ, तू उठता ही जावेगा
ऊँचे चढ़-चढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !!
अंत नहीं यदि इस पद्धति का
तो अनंत गति तेरी,

माखनलाल चतुर्वेदी

वीर-पूजा

था प्यारा अमरत्व,
अमर आनन्द अभय था,
विश्व को अभिमान,
वीर्य-बल-पूर्ण विजय था;
जागृति जीवन-ज्योति,
जोर से हो, तू दमके,
परम कार्य का रूप बने,
वसुधा में चमके;
तू भुज उठा दे हे जयी !
जग चक्कर खाने लगे;
दुखियों के हिय शीतल बनें,
जगतीतल हुलसाने लगे।
तेरे कन्धों चढ़े,
जगत-जीवन की आशा,
तेरे बल पर बढ़े,
जाति, जागृति, अभिलाषा,

कसी रहे कटि कर्म—
महा-वारिधि तरने को,
गरुड़ छोड़, पद चलें,
दुखी का दुख हरने को।

वह प्रेम-सूत्र में गूँथ रहा,
दुखियों के मन का हार है;
वसुधा का बल संचार ही
श्री चरणों का उपहार है।

आ, आहा! यह दिव्य
देश-दर्शन दिखला, आ!
उलट-पलट के विकट
कर्म-कौशल सिखला, आ!
"जय हो,—यह हुंकार
हृदय दहलाने वाली!
कांप उठी उस बन—
प्रदेश की डाली डाली।

लो, श्री मनुष्यता मस्त हो,
विजय ध्वनि आराधे खड़ी;
आ प्रकृति-प्रेम पगली बनी
वीणा के स्वर साधे खड़ी।

आहा! पन्द्रह कोटि
हार ले, आये माली,
जगमग-जगमग हुईं
कोटि पन्द्रह ये डाली,
अर्घ्य-दान के लिए
हिमालय आगे आये,

रत्नाकर ये खड़े,
धुलें श्री चरण सुहाये।
यह हरा-हरा भावों भरा
कर्मस्थल स्वीकार हो;
नवजीवन का संचार हो, क्यों हो ?
कृति हो, हुंकार हो ।

वेदना-गीत से

कंपन के तागे से गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
मारुत से क्यों, तरुवर कुंजों में न विलम पाते हो,
और पंछियों की तानों से जरा न टकराते हो।
टेकड़ियों के द्वार कहो, कैसे चढ़ कर आते हो ?
आते-जाते हो या मुझ में आकर छिप जाते हो ?
अमित की मति-सी परम गँवार
आह की मिटती-सी मनुहार
पूछती है तुमसे दिलदार—
कौन देश से चले ? कौन सी मंजिल पर जाते हो ?
कसक, चुटकियों पर चढ़कर क्यों मस्तक डुलवाते हो ?
कंपन के तागे में गूँथ-से क्यों लहराते हो ?

क्या बीती है आजाने दो उसको भी इस पार ?
क्यों करते हो लहराने का भूतल में व्यापार !
चट्टानों से बनी विंध्य की टेकड़ियों के द्वार—
वायु-विनिंदित तरलाई पर तैर रहे बेकार ।
छटपटाहट को यों मत मार,
पहन सागर लहरों का हार
खोल के कोटि कोटि हृद्द्वार,

कहाँ भटकते, लेते प्राणों को बन राग-विहाग ?
शीतल अंगारों से विश्व जलाने क्यों जाते हो ?
कंपन के तागे से गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

किसके लिये छोड़ते हो अपनी यह तरल तरंग ?
किसे डुबोने को घोला है यह लहरों पर रंग ?
कोई ग्राहक नहीं, अरे फिर क्यों यह सत्यानास ?
बाँस, काँस, कुस से सहते हो लहरों का उपहास ?
अरे वादक, क्यों रहा उँडेल,
खेलता आत्मघात का खेल,
उड़ता व्यर्थ स्वरों का मेल,
यह सच है किसलिये बिना पंखों की मृदुल उड़ान,
दूर नहीं होते, माना; पर पास भी न आते हो ?
कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

मानूँ कैसे ? कि यही सभी सौभाग्य सखे मुझपर है
है जो मेरे लिये, पास आने में किसका डर है ?
मेरे लिये उठेंगी आशाओं में ऐसी ध्वनियाँ,
करुणा की बूँदें, काली होंगी उनकी जीवनियां।

अरे, वे होंगी क्यों उस पर,
यहीं होंगी पलकों के द्वार,
पहन मेरी श्वासों के हार,
आह, गा उठूँ, हेमाचल पर तेरी यही पुकार—
बनने दे तेरी कराह को बरसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस बार —

अंतस्तल से अतल-वितल को क्यों न वेध जाते हो ?
अजी वेदना गीत, गगन को क्यों न छेद जाते हो ?
उस दिन ? जिस दिन महानाश की धमकी सुन पाते हो,
कंपन के तागे में गूंथे-से क्यों लहराते हो ?

जयशंकर 'प्रसाद'

भारतवर्ष

हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे, हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल-कर में गम्भीर।
सप्तस्वर, सप्तसिन्धु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत॥
बचाकर बीज रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण केतन लेकर निज हाथ, वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत॥

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥
सिन्धु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न भग्न रत्नाकर में वह राह॥

धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बन्द।
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द॥

विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट, दया दिखलाते घर-घर घूम॥

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं॥

जातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचण्ड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर॥
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न॥

हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-संतान॥

जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

अरी वरुणा की शांत कछार !

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुंज !
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुंज !
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे संसार !

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर पार्थिव भोग-विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार।
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक संवाद, तथागत आया तेरे द्वार।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शांत।
तिमिर का हरने को दुख-भार, तेज अमिताभ, अलौकिक कांत॥
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बंध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जय-घोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मंद्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

आँसू

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में ?
हाँ ! उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

× × ×

चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल रसीली;
मेरी करुणार्द्र-कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
वाडव-ज्वाला सोती थी इस प्रेम-सिन्धु के तल में,
प्यासी मछली-सी आंखें थीं विकल रूप के जल में।
नीरव मुरली, कलरव चुप, अलि-कुल थे बंद नलिन में,
कालिंदी वही प्रणय की इस तममय हृदय-पुलिन में।
छिल-छिलकर छाले फोड़े मल-मल कर मृदुल चरण से,
धुल-धुल कर बह रह जाते आँसू करुणा के कण से।

सियारामशरण गुप्त

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज, मल मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको, बाँधा है इस बन्धन में ?
फांसी सी है पड़ी गले में, नीचे गिरता जाता हूँ,
बार-बार इस अन्धकूप में, इधर-उधर टकराता हूँ।
ऊपर नीचे तम ही तम है, बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता गिर कर मैं जा रहा कहाँ ?

कांप रहा हूं; भय के मारे हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण,
ऐसे दुखमय जीवन से हा ! किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?
सभी तरह हूँ विवश करूं क्या, नहीं दीखता एक उपाय,
यह क्या ?–यह तो अगम नीर है, डूबा ! अब डूबा, मैं हाय ।
भगवन् ! हाय बचालो अब तो, तुम्हें पुकारू मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में आर्तनाद करके तब तक ।
अरे, कहां गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं,
गौरववान हुआ हूं सहसा, बना रहूं तो क्यों न यहीं ?
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वलता जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता यह नवजीवन भी देकर ।

दुर्वार

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू;
आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल ;
भर भर कर हुंकार कोपना
झंझा उड़ा रही है धूल ।"
अहा ! धूल ने भी गति धारी;
शुष्क पत्र भी हैं नभचारी,
तज विलास-मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल !
सखे, रोक मत मुझे आज तू,
प्रकृति आज मेरे अनुकूल ।
"रुक जा रुक जा बन्धु, आज तू,
आज समय-गति है प्रतिकूल,
रुद्र व्योम घन-जटा खोल निज
लिये हुए है विद्युत-शूल ।"

शूल अहा ! यह चमक चमक कर,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर ।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर
बढ़ जाता हूँ मैं भय-भूल ?
सखे रोक मत मुझे आज तू,
समय आज मेरे अनुकूल ।
"रुक जा, रुक जा बन्धु आज तू ।
ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल
जल ही जल सब ओर आज है,
डूब गये हैं सब पथ-कूल ।"
मेरे मग की खन्दक-खाई ,
वर्षा समतल पर है लाई ।
अहा ! सन्तरण की बन आई,
कण्टक दे न सकेंगे शूल
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
सब कुछ है मेरे अनुकूल ।

कलरव

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी - टी टुट् - टुट

वे ढाल ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर बिधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह-बेदना सने

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन! भारी पग!!
आ: गा-गा शत-शत सहृदय खग
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन
ढली हैं जिनकी रग-रग!

यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा-सृष्टि के साथ पला!

× × ×

गा सके खगों सा मेरा कवि
विश्री जग की संध्या की छवि
गा सके खगों सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात-फिर आवे रवि

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वर दे

(१)

वर दे, वीणावादिनि वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत मन्त्र नव
भारत में भर दे!

काट अन्ध उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र नव;
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे!

तेरे चरणों पर

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल।

जीवन के पथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल!

बाधाएँ आयें तन पर,
देख तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से,
अपलक, उर के शतदल पर,
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय-श्रम-संचित फल!

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊं ?—माँ! क्या गाऊँ ?
गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन,
तंत्री क्षीण—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
मां !—क्या गाऊँ ?
छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल सरस-पराग;
गंध-मोद-मद पीकर मंद समीर,
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर !
कहाँ एक निर्गन्धकुसुम उपहार,
नहीं कहीं जिसके पराग-संचार सुरभि-संसार !!
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?

श्री सुमित्रानन्दन पंत

नौका-विहार

(कालाकांकर में गंगा की धारा में)

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भू-तल !
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत निश्चल !

तापस बाला गंगा निर्मल शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी बिभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।
चांदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें बँधी, खुला लंगर।
मृदु मंद, मंद, मंथर, मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिंबित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकांकर का राज-भवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।
नौका से उठतीं जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक छिप पल पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता, मुग्ध-सा रुक-रुक।
आ पहुंची चपला बीच धार,

छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर, क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल;
मां के उर पर शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप;
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग? क्या विकल कोक, उड़ता, हरने निज विरह शोक
छाया की कोकी को विलोक।
पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार।
डांडों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार।
चांदी के सांपों सी रलमल नाचतीं रश्मियां जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल सरल।
लहरोंकी लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सोत्साह।
ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार,
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझ को अमरत्व दान।

सुख-दुख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख ।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन ।

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से ।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख सुख की निशा-दिवा में
सोता जगता जग-जीवन ।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिङ्गन बिरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का !

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय; चिर नूतन !

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन;
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन !
छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिङ्गन !
बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन !
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन !

सुभद्रा कुमारी चौहान

झाँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सब ने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सब ने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(२)

कानपुर के नाना की मुँहबोली बहन 'छबीली' थी;
लक्ष्मीबाई नाम पिता की वह सन्तान अकेली थी,

नाना के संग पढ़ती थी वह नाना संग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,
वीर शिवाजी की गाथाएं उसको याद जबानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(४)

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाईं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावली सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देलों हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य! मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु काल गति चुपके चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी नहीं दया आई,

नि:सन्तान मरे राजा जी रानी शोक समानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(६)

बुझा दीप झाँसी का, तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया,
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रु-पूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई बिरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(७)

अनुनय विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नवाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(८)

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों बात,
कैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपुर, तंजोर, सतारा कर्नाटक की कौन बिसात,
जबकि सिंध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,
बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(६)

रानी रोई रनिवासों में बेगम ग़म से थीं बेज़ार,
उनके कपड़े गहने बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार;
सरेआम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
'नागपुर के जेवर ले लो', 'लखनऊ के लो नौलखहार',
यों परदे की इज़्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१०)

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्दूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,
हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(११)

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरठ, कानपुर, पटना ने भी भारी धूम मचाई थी,
जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१२)

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,

लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुंचा आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
जख्मी होकर वौकर भागा उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१३)

रानी बढ़ी, कालपी आई, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेजों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार,
अंग्रेजों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी राजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१४)

विजय मिली पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जनरल स्मिथ सम्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मंदरा सखियाँ रानी के संग आई थी,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थीं,
पर, पीछे ह्यू रोज आ गया, हाय घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१५)

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१६)

रानी गई सिधार! चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं, अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१७)

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

विप्लव-गायन

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए,

प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का—
धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य सदसद् भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए—
तारे टूक-टूक हो जाएँ,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

माता की छाती का अमृत-
मय पय काल-कूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे,
वे शोणित की घूँटें हो जाएँ,
एक ओर कायरता काँपे,
गतानुगति विगलित हो जाय,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह,
अचल शिला विचलित होजाए,
और दूसरी ओर कँपा देने
वाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक
तर्जन की ध्वनि मँडराए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए!

नियम और उपनियमों के ये
बंधन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वंभर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,

शांति-दंड टूटे उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
विश्व के प्रांगण में घहराए,

नाश! नाश!! हा महानाश!!! की
प्रलयंकरी आँख खुल जाए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए!

"सावधान मेरी वीणा में,
चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, अंगुलियाँ
दोनों मेरी ऐंठी हैं।

कंठ रुका है महानाश का
मारक गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल
में अब क्षुब्ध-युद्ध होता है,

झाड़ और झंखाड़ दग्ध हैं—
इस ज्वलंत गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अंतर-तर से!

"कण-कण में है व्याप्त वही स्वर
रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,

वही तान गाती रहती है,
कालकूट फणि की चिंतामणि,
जीवन-ज्योति लुप्त है—अहा!
सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में इस
नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।

चकनाचूर करो जग को, गूँजे
ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अन्तर-तर से !!
"दिल को मसल, मैं मेंहदी
रचता आया हूँ, यह देखो,
एक-एक अंगुलि-परिचालन
में नाशक तांडव को देखो !
विश्वमूर्ति ! हट जाओ !! मम
भीम प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े होजाओगी,
नाशमात्र अवशेष रहेगा;
आज देख आया हूँ—जीवन
के सब राज़ समझ आया हूँ;
भ्रू-विलास में महानाश के
पोषक सूत्र परख आया हूँ;
जीवन-गीत भुला दो—कंठ
मिला दो मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अन्तर-तर से।

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे बलि-वध के सुन्दर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव,
बड़े-बड़े ये शिला-खण्ड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत,
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास !
नीचे उपत्यका में है जीवन पंकिल का त्रास !
चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुंज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य कट जाने दे तू मोहक बंध,
कर दे पूरा आज मरण क तू अपना सुप्रबंध ।

भगवतीचरण वर्मा

दीवानों का संसार

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहां, कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;
आए बन कर उल्लास अभी
आंसू बन कर वह चले अभी ।
सब कहते ही रह गए, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?
किस ओर चले ? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिये चले;

जग से उसका कुछ लिये चले,
जग को अपना कुछ दिए चले
दो बात कहीं, दो बात सुनीं।
कुछ हंसे और फिर कुछ रोए
छल कर सुख-दुख के घूंटों को
हम एक भाव से पिए चले।
हम भिखमंगों की दुनिया में
स्वच्छंद लुटाकर प्यार चले;
हम एक निशानी सी उर पर
ले असफलता का भार चले;
हम मान-रहित, अपमान-रहित
जी भर कर खुल कर खेल चुके;
हम हंसते-हंसाते आज यहां
प्राणों की बाजी हार चले।
हम भला बुरा सब भूल चुके
नत-मस्तक हो मुख मोड़ चले;
अभिशाप उठा कर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,
अब अपना और पराया क्या!
आबाद रहें रुकने वाले!
हम स्वयं बंधे थे और स्वयं
हम अपने बंधन तोड़ चले।

मेरी आग

(१)

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन-चुनकर अपने अरमान।

अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान,
अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग,
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(२)

आमन्त्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले,
अंधकार के महा उदधि में अंधों से तरने वाले,
फूल चढ़ाने वे आये हैं जिसमें मिलता नहीं पराग !
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(३)

इस उत्सव में आन जुटे हैं हँस-हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटाकर पल में तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले,
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग !
जल उठ, जल उठ अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(४)

यहां हृदय वालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का यह पूजा की बेला है,
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहां प्राण पर वह अपने ही खेला है,
फिर न मिलेंगे ये दीवाने फिर न मिलेगा इनका त्याग !
जल उठ जल उठ अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(५)

लपटें हों विनाश की जिसमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रांति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्वास के धूम्र पुंज से ढक जावे जग का अभिमान,
आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोला बने विराग !
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग

महादेवी वर्मा

दीपक-जल

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन !
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
मांग रहे तुझसे ज्वाला-कण;
विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल !'
सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता
विद्युत ले घिरता है बादल !
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अङ्ग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल
बिखर बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अञ्चल की ओट किये हूं
अपनी मृदु पलकों से चञ्चल !
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियां गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूं आंसू-जल !
सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;
तम के अणु-अणु में विद्युत सा—
अमिट चित्र अङ्कित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय;

मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुलखिल !
मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

रश्मि

चुभते ही तेरा अरुण बान,
बहते कन-कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान !
इन कनक-रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग;
बुद्‌बुद्‌ से बह चलते अपार
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान !
नव कुंद-कुसुम से मेघ-पुंज
बन गए इन्द्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-बिंदु नचाती तरलप्राण;
धो स्वर्णप्रात में तिमिरगात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान !
सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीरपरियाँ विहार,
गीली केसर-मद झूम झूम
पीते तितली के नव कुमार;
मर्मर का मधुसंगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान!

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख,
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कंजकोप—
पर छाया विस्मृति का खुमार;
रँग रहा हृदय ले अश्रुहास
वह चतुर चितेरा सुधिविहान!

तुम मुझ में प्रिय !

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या !
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या !
तेरा मुख साहस अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय,
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !
तेरा अधर विचुंबित प्याला,
तेरी ही स्मितमिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूं क्यों मेरे साकी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?
रोम रोम में नन्दन पुलकित,
साँस साँस में जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित,

मुझ में नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?
हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,
भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?
चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं हूँ स्वरसंगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

हरिवंशराय 'बच्चन'

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूं,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूं,
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
मैं सांसों के दो तार लिए फिरता हूँ ।
मैं निज उर के उद्गार लिए फिरता हूं,
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूं,
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ ।
मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूं,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूं;

जग भव-सागर तरने को नाव बनाए,
मैं निज मौजों पर मस्त बहा करता हूं।
मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूं,
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूं;
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिए फिरता हूँ।
कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना ?
नादान वहीं हैं, हाय जहां पर दाना !
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे
मैं सीख रहा हूँ, सीखा-ज्ञान भुलाना।
मैं और, और जग और, कहां का नाता !
मैं बना-बना कितने जग रोज मिटाता।
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रतिपग से उस पृथ्वी को ठुकराता।
मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूं,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूं,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खंडहर का भाग लिये फिरता हूं।
मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना।
मैं फूट पड़ा तुम कहते छन्द बनाना।
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए।
मैं दुनिया का हूं एक नया दीवाना।
मैं दीवानों का वेष लिए फिरता हूं,
मैं मादकता निःशेष लिए फिरता हूं;
जिसको सुनकर जग भूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूं।

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

दिन जल्दी जल्दी ढलता है !
हो जाय न पथ में रात कहीं
मंजिल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी जल्दी चलता है।
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !
बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !
मुझ से मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊं किसके हित चंचल !
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है।

बीत चली संध्या की बेला !

बीत चली सन्ध्या की बेला
धुँधली प्रतिपल पड़ने वाली,
एक रेख में सिमटी लाली,
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !
बीत चली संध्या की बेला
नभ में कुछ द्युति-हीन सितारे
माँग रहे हैं हाथ पसारे—
'रजनी आए, रवि-किरणों से हमने है दिन-भर दुख झेला।'
बीत चली संध्या की बेला !
अंतरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़,
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला !

रामधारीसिंह दिनकर

शब्द-वेध

खेल रहे हिल-मिल घाटी में
कौन शिखर का ध्यान करे
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह
फूलों का मधु-पान करे ?
लक्ष्य-वेध है कठिन; अमा का
सूचि-भेद्य तन-तोम यहाँ,
ध्वनि पर छोड़े तीर, कौन यह
शब्द-वेध संधान करे ?

शूली ऊपर सेज पिया की
दीवानी मीरा सो ले,
जो अशेष बलिदान करे !
जीवन की जल गई फ़सल
तब उगे यहाँ दिल के दाने,
लहरायेगी लता, आग—
बिजली का तो सामान करे !

सबकी अलग तरी अपनी—
दो का चलना मिल साथ मना,
पार जिसे जाना हो वह
तैयार स्वयं जलयान करे !
फूल झड़े; अलि उड़े वाटिका
का मंगल-मधु स्वप्न हुआ,
दो दिन का है संग हृदय क्या
हृदयों से पहचान करे !

शिर देकर सौदा लेते हैं
जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा
फीका रंग रहा तो घर तज
क्या गैरिक-परिधान करे !
उस पद की मंजीर गूँजती;
हो नीरव-सुनसान जहाँ,
सुनना हो तो तज बसंत,
निज को पहले वीरान करे !
मणि पर है आवरण, दीप से तूफाँ में कब काम चला ?
दुर्गम पंथ, दूर जाना है, क्या पंथी अनजान करे ?
तरी खेलती रहे लहर पर यह भी एक समाँ कैसा ?
डाँड छोड़, पतवार तोड़कर तू कवि निर्भय गान करे ?

अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !
सुनना श्रवण चाहते अब तक
भेद हृदय जो जान चुका है,
बुद्धि खोजती उन्हें, जिन्हें
जीवन निज को कर दान चुका है,
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद-पद्मों के ऊपर,
बाहु पाश से दूर जिन्हें
विश्वास हृदय का मान चुका है,
जोह रहे उनका पथ दृग, जिनको पहचान गया है चिंतन,
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !

उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल,
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल,
मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूँ,
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर—
है कुछ अर्थ, लक्ष्य, इस रव का ?
"या कुल-कुल कल-कल ध्वनि केवल"

दृश्य, अदृश्य कौन सत इनमें ? मैं था प्राण-प्रवाह चिरंतन ?
गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !

जलकर चीख उठा वह कवि था,
साधक जो नीरव जपने में,
गाए गीत खोल मुँह क्या वह,
जो खो रहा स्वयं सपने में ?
सुषमाएं जो खेल रही हैं
जल-थल में, गिरि-गगन-पवन में,
नयन मूंद अंतर्मुख-जीवन
खोज रहा उनको अपने में ।

अंतर बहिर एक छवि देखी, आकृति कौन ? कौन है दर्पण !
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ?

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की
मग्न-कांति बढ़कर निज कर से,
इच्छा है आवरण स्रस्त हो,
गिरे दूर अंत-श्रुति पर से ।
पहुँच अगेय-गेय-संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय

फूट रहा जो सत्य, सनातन
कविर्मनीषी के स्तर-स्तर से।
गीत बनी जिनकी झाँकी अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन !
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !

रामकुमार वर्मा

किरण-कण

एक दीपक-किरण-कण हूं।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव प्रभा लेकर चला हूं, पर जलन के साथ हूं मैं।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूं।
एक दीपक-किरण-कण हूं।
व्योम के उर में अपार भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूं।
एक दीपक-किरण-कण हूं।
शलभ को अमरत्व देकर प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का संदेश लेकर रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूं।
एक दीपक-किरण-कण हूं।

चन्द्र-किरण

यह चन्द्र-किरण भू पर आई।
साहस तो देखो नभवासिनि, पृथ्वी पर कह नव छवि लाई॥
एकाकीपन का लिए भार,

तम के प्रदेश को किया पार,
प्रतिक्षण विस्तृत हो रेख रूप,
कर दिया विमल तन तार-तार।
मेरे दृग में खोकर उसने, बोलो, क्या जीवन-निधि पाई॥
तज नक्षत्रों से पूर्ण लोक,
आलोक छोड़, निज ज्योति रोक,
मेरी पृथ्वी जो है मलीन,
जिसमें है पीड़ा, रुदन, शोक,
उसमें आने के हेतु न जाने क्यों इतनी यह ललचाई।
यह चन्द्र-किरण भू पर आई

लेखक परिचय

प्रथम-खण्ड

(गद्य-लेखक)

१. महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी

राष्ट्र-पिता गांधीजी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ को पोरबन्दर गुजरात में हुआ था। आपने शिक्षा भावनगर, राजकोट और लन्दन में प्राप्त की। बेरिस्टर होकर आप १८९३ से १९१४ तक अफ्रीका में भारतीयों की दुखद स्थिति का सुधार करते रहे। सन् १९१४ के पश्चात् आपने भारत आकर स्वतंत्र युद्ध में भाग लिया। आप एक सच्चे महात्मा, विचारक समाज सुधारक थे। आप अनेक समाचार पत्रों के सम्पादक एवं अनेक सभाओं के सभापति रहे। आप भारतीय आत्मा के प्रतीक एवं स्वातन्त्र्य युद्ध के संचालक थे। आप उच्च कोटि के व्याख्यानकार थे। धर्म और नीति की आपने उत्तम व्याख्या की है। ग्रन्थ आत्मकथा, हिन्द स्वराज्य, दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह एवं असंख्य लेख-संग्रह। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न करते हुए ३० जनवरी १९४८ को शहीद हुए।

२. आचार्य विनोबा भावे

श्री विनोबा जी का जन्म ११ सितम्बर सन् १८९५ को गागोदा (महाराष्ट्र) में हुआ। आपने गागोदा, बड़ौदा और काशी में शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त कर आप गांधी जी के ही साथ रहे और सत्याग्रहों में भाग लेते रहे। आप उच्च कोटि के विचारक व्याख्याता साधक और लेखक हैं। आप संस्कृत के विद्वान एवं लैटिन, फ्रेंच अरबी आदि १६ भाषाओं के ज्ञाता हैं। आजकल आप वर्धा के पास

पवनार में वास करते हैं। आप बापू के सच्चे शिष्य हैं और उन्हीं पद-चिह्नों पर चल रहे हैं। सर्वोदय के सम्पादक हैं। आपके ग्रन्थ हैं स्थितिप्रज्ञ दर्शन गीता-प्रवचन, विनोबा के विचार, विचार पोथी, ईशावास्यवृत्ति आदि।

३. कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कवीन्द्र रवीन्द्र का जन्म १८६१ में बंगाल के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। इनका अधिकांश अध्ययन घर पर ही हुआ। बाल्यकाल से ही ये एकान्त-सेवी, कला-प्रेमी प्रकृति-उपासक थे। आपने अपनी १७-१८ वर्ष की अवस्था से ही कविता करना प्रारंभ कर दिया था। आपकी प्रारंभिक रचनाओं में विश्व-प्रेम की झलक है। गीतांजलि आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस पर आपको नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। ग्राम्य जीवन से आपको प्रेम था। आपके उपन्यास, कहानी, कविता एवं निबन्ध सभी उत्कृष्ट हैं। आपने भारतीय शिक्षा प्रणाली के आधार पर शान्ति-निकेतन नामक विश्व-विद्यालय स्थापित किया। आपने 'भारती-भण्डार' 'साधना' और 'बंगदर्शन' नामक समाचार पत्रों का सम्पादन भी किया। लोक-सेवा एवं साहित्य-सेवा करते हुए आप ७ अगस्त १९४१ को इस संसार से विदा हुए।

४. लिओ टाल्सटाय

लिओ टाल्सटाय का जन्म ६ सितम्बर सन १८१८ को रूस के यस्नया पोल्यना नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने कज़ान विश्व-विद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। लिखने का शौक इन्हें बाल्यकाल से ही था। इन्होंने कई बार विदेश यात्रायें कीं और नवीन अनुभव प्राप्त किये। गम्भीर विचारक परम विद्वान और समाज सुधारक थे। लिखने में इनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा थी। आपके उपन्यास, कहानी नाटक एवं अन्य विचारपूर्ण रचनाओं के अनुवाद हो चुके हैं। प्रमुख

ग्रन्थ—अन्नाकैरिना, क्या करें, प्रेम में भगवान, मजदूरों की समस्या, अँधेरे में उजाला आदि। आपके अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। २० नवम्बर सन् १९१० को यात्रा-मार्ग में टालसटाय की मृत्यु हो गई।

५. पं० जवाहरलाल नेहरू

पं० नेहरू का जन्म १४ नवम्बर १८८९ ई० को इलाहाबाद में हुआ था। आप हैरो और कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त कर बैरिस्टर बने। परन्तु आपने बैरिस्टरी नहीं की और अपने जीवन को देशहित न्योछावर कर दिया। आप सन् १९१८ से कांग्रेस में हैं और सर्वदा स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भाग लेते रहे हैं। आन्दोलनों में आप नौ बार जेल गये और वहीं आपने अधिकांश ग्रंथ लिखे। इतिहास से आपको विशेष प्रेम है। आप उच्च कोटि के प्रगतिवादी विचारक, साहित्य-प्रेमी एवं लेखक हैं। सन् १९४६ से ही आपके हाथ में देश की बागडोर है। आप स्वतन्त्र भारत के प्रधान एवं विदेश-मंत्री हैं। मेरी कहानी, हिन्दुस्तान की कहानी, विश्व इतिहास की झलक आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

६. महात्मा भगवान दीन

महात्मा जी का जन्म अतरौली, ज़िला अलीगढ़, में हुआ था। शुभ संस्कारों का उदय आपमें प्रारम्भ से ही था। संसार से विरक्ति थी और थी जीवन सार्थक बनाने की उत्कट अभिलाषा। इन्हीं से प्रेरित हो आपने सन् १९०९ में गृह त्याग किया। अपने प्रारंभिक विरक्त जीवन में आप जैन-साधक थे। सन् १९११ में आपने ऋषभ ब्रह्मचर्य आश्रम हस्तिनापुर की स्थापना की। स्वदेशानुराग आपके हृदय में सदैव रहा, इसीलिये आप स्वातन्त्र्य-समर में हमेशा सक्रिय भाग लेते हुए कई बार जेल गये। सन् १९२१ में आपने असहयोग आश्रम नागपुर की स्थापना की। आप मध्यप्रांत (मराठी) प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष और अनेक भाषाओं के ज्ञाता, गम्भीर विचारक एवं

प्रभावशाली लेखक हैं। प्रस्तुत निबन्ध आपकी 'जवानी' नामक पुस्तक में से लिया गया है जो कि जीवन-समर में पदार्पण करने वाले युवकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

७. बंकिम चन्द्र

श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी का जन्म २७ जून सन् १८४८ को बंगाल के चौबीस परगने में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये कलकत्ता विश्व-विद्यालय से ग्रेजुएट होकर सिविल सरविस में डिप्टी मजिस्ट्रैट क पद पर नियुक्त हुए। बंगाल की गणयमान विभूतियों में आपका उच्च स्थान है। संसार के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में इनकी गणना है। आपकी प्रखर कल्पनाशक्ति का परिचय आपकी रचनाओं में प्राप्त होता है। प्रसिद्ध ग्रन्थ है कपाल कुण्डला मृणालिनी, आनन्द मठ, विषवृक्ष (उप-न्यास)। आपके उपन्यासों के अनुवाद विदेशी भाषाओं में भी हुए। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' आप ही की कृति है जिससे इनका देश-प्रेम स्पष्ट है। ८ अप्रैल १८९४ को आप स्वर्गवासी हुए।

८. आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

काका कालेलकर जी का जन्म सन् १८८४ में सतारा (महाराष्ट्र) में हुआ था। बम्बई में आपने शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा, साहित्य, एवं ज्योतिष आपके प्रिय विषय रहे हैं। आप सदैव गांधी जी के निकट सम्पर्क में रहे और उनकी नीति का यथावत पालन करते रहे। राष्ट्र भाषा का आपने खूब प्रचार किया। आपने 'नवजीवन', 'सर्वोदय', राष्ट्रभाषा', एवं 'हरिजन' का सम्पादन भी किया है। आप हिन्दी के अच्छे लेखक एवं गुजराती और मराठी के उच्च कोटि के साहित्यिक हैं। 'जीवन-साहित्य', 'जीवन का काव्य', 'हिमालय-यात्रा', आत्मकथा और 'लोक-जीवन' आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। गुजराती-मराठी की भी आपने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं।

६. घनश्यामदास बिड़ला

सेठ बिड़ला का जन्म सन् १८६१ में जयपुर राज्य में हुआ था। आप भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारी हैं। आप गांधी जी के निकट सम्पर्क में रहे हैं एवं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए हैं। आप हरिजन-सेवक-संघ के प्रधान तथा धारा-सभा के सदस्य भी रहे हैं। साहित्य एवं दार्शनिक विषयों से आपको प्रेम है। आप एक कुशल लेखक हैं। आपकी लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तकें, रुपये की कहानी, कर्ज से साक्षात्कार, बापू, जमनालाल जी, डायरी के पन्ने, बिखरे-विचार, रूप और स्वरूप हैं।

१०. प्रेमचन्द जी

मुन्शी प्रेमचन्द जी का जन्म सन् १८८० में काशी के मढ़वा नामक ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल से ही आप प्रतिभाशाली थे। आपने अपनी प्रारंभिक रचनाएँ उर्दू में कीं जो कानपुर की 'ज़माना' नामक पत्रिका में निकलती रहती थीं। आपकी सर्व-प्रथम हिन्दी की कहानी सन् १९१६ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। आप सच्चे देश-सेवक, समाज-सुधारक एवं साम्यवादी थे। भारतीय ग्राम्य-जीवन के वास्तविक दृश्य आपकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। आपने प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का सभापतित्व भी किया। मुन्शी जी का अधिकांश जीवन कष्टमय रहा किन्तु आप उनके समक्ष झुके नहीं, कष्टों में भी सदा हँसते ही रहे। आपने अपने सुन्दर उपन्यासों, कहानियों एवं नाटकों से हिन्दी साहित्य के भंडार को पूर्ण किया।

११. श्री सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण जी का जन्म सन् १८६५ में हुआ था। आप कविवर मैथिलीशरण जी के छोटे भाई हैं और चिरगांव (झांसी) में निवास करते हैं। आप कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। आप प्रख्यात कवि, उपन्यासकार और कहानी-लेखक हैं। गांधीवाद से आप प्रभावित हैं।

आपकी रचनाएँ गम्भीरता, आत्मीयता, एवं सरलता से परपूर्ण रहती हैं। आपकी प्रसिद्ध गद्य रचनाएँ—नारी (उपन्यास) मानुषी (कहानी संग्रह) पुण्य पर्व (नाटक) फूठसच (निबन्ध) हैं।

१२. श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्रकुमार जी का जन्म सन् १६०५ में अलीगढ़ में हुआ था। आपने शिक्षा हस्तिनापुर और काशी में प्राप्त की। आप हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार एवं निबन्ध लेखक हैं। गांधीवाद से आप प्रभावित हैं। आप अत्यन्त सरल, भावुक दार्शनिक एवं स्वतन्त्र विचारक हैं। हंस (बनारस) के सम्पादक भी रहे हैं तथा आजकल यूनेस्को के भारतीय उप-कमीशन के सदस्य हैं। आपने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ परख, त्याग-पत्र, सुनीता, कल्याणी, वातायन, जड़ की बात, फांसी, जयसंधि आदि हैं। आपको अपनी श्रेष्ठ रचनाओं पर कई पारितोषिक भी प्राप्त हो चुके हैं।

१३. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

हज़ारी प्रसाद जी का जन्म ओझावालिया में सन् १६०७ में हुआ था। काशी में आपने शिक्षा प्राप्त की। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता एवं संस्कृत के महापण्डित हैं। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक हैं। आजकल आप महाभारत पर अनुसंधान कर रहे हैं। आपने अनेक साहित्य रचनाओं का सम्पादन किया है। आप शान्ति-निकेतन में अध्यापक हैं तथा हिन्दी-भवन के डाइरेक्टर भी। आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ-कबीर, सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, बाण भट्ट की आत्मकथा, अशोक के फूल आदि हैं।

१४. महादेवी वर्मा

महादेवी जी का जन्म सन् १६०७ में फर्रुखाबाद में हुआ था। आप प्रसिद्ध छायावादी कवियित्री एवं एक सफल लेखिका हैं। प्रयाग

महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं एवं आजकल साहित्यकार-संसद को चला रही हैं। कलाओं से आपको अत्यन्त प्रेम है। 'चाँद' का सम्पादन भी आप कर चुकी हैं। "स्मृति की रेखाओं" में आपने अपनी अतीत की स्मृतिओं का स्वाभाविक चित्रण किया है। 'चीनी भाई' उसी में से उद्धृत किया गया है।

द्वितीय खण्ड

(पद्य लेखक)

१. कबीर

संत कवियों में अग्र-गण्य कबीर दास का जन्म-वृत्तान्त अधिकतर दन्त-कथाओं पर आधारित है। कहा जाता है कि ये विधवा ब्राह्मणी से सन् १३९८ में उत्पन्न हुए और समाज के भय से लहरतारा तालाब के पास फेंक दिये गये। नीमा और नीरू नामक जुलाहे ने इन्हें वहाँ से उठाकर पाला-पोसा। इनकी बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति थी। इन्होंने श्री रामानन्द जी से गुरु-दीक्षा ली एवं अपने सदुपदेशों से परमात्मा की अभिन्न सत्ता का निर्देश कर हिन्दू-मुस्लिम जनता को एकता का पाठ पढ़ाया। ये पक्के सुधारक थे और आडम्बर से घृणा करते थे। आप ने जनसाधारण के लिए सरल भाषा का प्रयोग किया। आपका काव्य साधारण मनुष्य एवं विचारवान् साहित्यक दोनों को आकर्षित करता है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण आपकी कविता हिन्दी साहित्य में सदैव अमर रहेगी।

२. नानक

सिक्खों के गुरु नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक गांव में हुआ था। इन पर बचपन से ही भक्ति का रंग चढ़ गया

ये सामान्य पढ़े-लिखे थे। एक बार वेन नदी में स्नान करते समय इन्हें आत्म-ज्ञान हुआ और उसी समय से ये घर-बार छोड़ पर्यटन करने लगे। गीत गाने का इन्हें शौक था। ये अपने पद गाया करते। इनकी भाषा पंजाबी है किन्तु इनकी कुछ रचनाएं ब्रज-भाषा में भी हैं परन्तु उसमें पंजाबी भाषा के शब्दों का सम्मिश्रण है। इन्होंने अपनी यात्राओं में जनता को एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। गुरु-ग्रन्थ-साहिब में इनके पदों का संग्रह है।

३. विद्यापति

विद्यापति का जन्म दरभंगा ज़िले के बेनीपट्टी थाने के अन्तर्गत बिसपी गांव में हुआ था। वे मैथिल ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के परम विद्वान थे। इनकी अधिकांश रचनाएं श्रृंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। इनमें इन्होंने राधाकृष्ण की सुमधुर लीलाओं का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है। इनके प्रधान आश्रयदाता मिथिला के राजा शिवसिंह थे। आपकी भाषा में मैथिल शब्दों का आधिक्य है। इनका काव्य गीत-काव्य है। आपकी कविता के गीतिप्रवाह ने आपको 'कवि-कोकिल' की उपाधि से भूषित किया एवं आपके यश की अभिवृद्धि की। ये हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि थे।

४. सूरदास

सूरदास जी के जन्म के बारे में विद्वानों में मतभेद है। गोस्वामी गोकुलनाथ जी की चौरासी वैष्णवन की वार्ता-के अनुसार इनका जन्म मथुरा-आगरा सड़क पर स्थित रुनकता ग्राम में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। ये चक्षुविहीन थे किन्तु जन्मान्ध होने के बारे में मतभेद है। इनके अन्धे होने के बारे में भी बहुत सी कथाएं प्रचलित हैं। बचपन से ही भक्ति का प्रभाव इनके ऊपर था। संयोगवश वल्लभा-चार्य जी से आपकी भेंट हुई और आप उनके शिष्य होगये। ये अह-र्निश भगवद्भक्ति में तल्लीन रहकर पद रचना करते एवं उन्हें गाकर

प्रभु को सुनाते । आप गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' प्रमुख कवि थे ।

सूर की भाषा सरसता, मधुरता और कोमलता से ओत-प्रोत ब्रजभाषा है । 'सूरसागर' आपकी रचनाओं का संग्रह है । वात्सल्य श्रृंगार और शांत रस में आपने अपनी पद-रचना की है । आपके पदों की स्वर माधुरी; भाषा का लोच, विषय की सजीवता एवं सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अद्वितीय हैं ।

५. गोस्वामी तुलसीदास

श्री तुलसीदास जी का जन्म सन् १५३२ में राजापुर ग्राम (ज़िला बांदा) में हुआ । आप सरयूपारीण ब्राह्मण थे । माता-पिता के निधन के कारण बाल्यकाल से ही आश्रयहीन थे । श्री रामचरण में प्रारम्भ से ही निष्ठा थी । आप बाबा नरहरिदासजी के शिष्य थे । काशी में शेष सनातनजी से धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया । भारद्वाज गोत्रीय दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से विवाह किया । स्त्री पर परमासक्ति थे । इन्हें पत्नी के पराभव से राम-भक्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई, एवं तत्क्षण गृह-बार त्याग विरक्त हो गये । विरक्तावस्था में अधिकांश वास काशी में किया। ग्रन्थ—दोहावली, कवितावली, रामचरित-मानस, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली, विनयपत्रिका, रामललानहछू, पार्वती-मंगल, जानकीमंगल, बरवै-रामायण, वैराग्य-संदीपनी और कृष्णगीतावली । भाषा—अवधी-ब्रज और बुन्देलखण्डी का उसमें पुट है । हिन्दू जाति के मार्ग-प्रदर्शक राम का मर्यादापुरुषोत्तम रूप में वर्णन किया हैं । रचनाओं में आवश्यकतानुसार समस्त रसों का परिपाक है ।

६. मीराबाई

इनका जन्म स्थान चौकड़ी (कुड़की) ग्राम, राजस्थान में है । ये मेड़तियाँ के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं इनके पति राणा सांगा के

पुत्र भोजराज थे। बाल्यावस्था से ही कृष्ण-भक्त थीं। विवाह के कुछ ही वर्ष पश्चात् विधवा हो गईं। इस घटना ने ईश्वर-भक्ति में और भी योग दिया। निरन्तर कृष्ण-भक्ति कृष्ण-चिन्तन, कृष्ण-कीर्तन, कृष्ण-गुण-कथन में तल्लीन रहतीं। माधुर्य भाव की उपासना अर्थात् कृष्ण को पति रूप में वरण किया। दुष्ट राणा द्वारा मार डालने के कई षड्यन्त्र किये गये किन्तु सब निष्फल गये। मीरा के काव्य में तीव्र भावाभिव्यक्ति तथा प्रेम की तल्लीनता अत्यधिक है। ईश्वर-वियोग-जनित वेदना का सम्मिश्रण है। । भाषा—राजस्थानी और व्रज भाषा का सम्मिश्रण।

७. रहीम

श्री रहीमदासजी का जन्म सन १५५३ में हुआ था। ये अकबर के अभिभावक बैरमखाँ खानखाना के पुत्र थे। ये अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान थे। अकबर के दरबार के नवरत्न थे। ये परम उदार, भक्त, सहृदय, विचारवान् एवं नीतिज्ञ थे। कविता से अत्यन्त प्रेम था। आपने कवि गंग को उनकी कविता पर प्रसन्न होकर ३६ लाख रुपये दे दिये। इनकी कविता नीति और ज्ञान के तत्व से परिपूर्ण है। मुसलमान होते हुए भी आपने उपमा और रूपक भारतीय इतिहास-पुराणों से दिये हैं। भाषा-सरल व्रज एवं कहीं-कहीं अवधी का पुट। उक्तियाँ मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक। रचनाएँ—रहीम सतसई, रासपंचाध्यायी, बरवै-नायिका-भेद, मदनाष्टक। (इनकी मृत्यु सन् १६२५ में हुई।

८. वृन्द

आपका जन्म सन् १६६३ के लगभग मथुरा के आसपास हुआ था। ये औरंगजेब के दरबारी कवि थे। तत्पश्चात् औरंगजेब के पोते अजीमुश्शान के कवि रहे। अजीमुश्शान स्वयं कवि था अतः वह वृन्द का अत्यन्त आदर करता था। वृन्द अनुभवशील व्यक्ति थे। इनके

नीति के दोहे सरल एवं शिक्षाप्रद हैं। भाषा—सरल ब्रज भाषा। रचना—वृन्द विनोद सतसई।

६. गिरधर कविराय

इनका जन्म सन् १७१३ के लगभग हुआ था। इनका जीवन-वृत्तान्त अज्ञात है। जनश्रुति के अनुसार मुलतान के समीप के निवासी थे। 'कविराय' के पद से उन्हें भाट अनुमानित किया जाता है। लौकिक रीत-नीति के पूर्ण अनुभवी एवं परम् नीतिज्ञ थे। भाषा सीधी सादी एवं लोक-व्यवहार के पूर्ण उपयुक्त है। आपने नीति-युक्त कुण्डलियों की रचना की। जनता में इनकी कुण्डलियों का खूब प्रचलन है।

१०. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

श्री भारतेन्दुजी का जन्म काशी के एक समृद्ध वैश्यकुल में हुआ था। बाल्यकाल से ही कविता करने में रुचि थी। शिक्षा से अत्यधिक प्रेम था। काशी में बालक-बालिकाओं के लिये स्कूल खोले। हिन्दी साहित्य की खूब सेवा की। हिन्दीमें वर्तमान युग के आदि प्रवर्तक थे। नाटक, प्रहसन, कथा, कहानी, कविता और इतिहास आदि साहित्य के सभी अंगों की अभिवृद्धि की। कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, और बाला-बोधनी आदि कई पत्र पत्रिकाओं के जन्मदाता एवं सम्पादक रहे। भाषा—खड़ी बोली और ब्रज-भाषा पर समान अधिकार तथा दोनों भाषाओं में ही कविताएं कीं। ग्रंथ-संख्या—१७९। हिन्दी की सर्वतोन्मुखी सेवा करने के कारण विद्वत्समाज ने आपको 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया।

११. श्रीधर पाठक

आपका जन्म जोंधरी, जिला आगरा, में हुआ। आपकी बुद्धि बाल्यकाल से ही विलक्षण एवं तीक्ष्ण थी। शिक्षा एन्ट्रेंस तक प्राप्त की। अंग्रेज़ी के अच्छे लेखक एवं अनुवादक थे। आपके अंग्रेज़ी से

हिन्दी अनुवाद—गोल्ड स्मिथ के Hermit का 'एकान्तवासी योगी' और Traveller का 'श्रान्त पथिक' तथा Deserted village का 'ऊजड़ग्राम।' आप प्राकृतिक सौंदर्य के अत्यधिक प्रेमी थे। 'काश्मीर सुषमा' और 'देहरादून' में प्रकृति का सजीव चित्र अंकित किया है। भाषा—खड़ी बोली। ब्रजभाषा में भी आपने रचनाएँ की हैं। आपकी योग्यता और हिन्दी-प्रेम से प्रेरित हो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ अधिवेशन में आपको सभापति चुना गया।

१२. अयोध्यासिंह उपाध्याय

श्री उपाध्यायजी का जन्म सन् १८६५ में आज़मगढ़ (जिला निज़ामाबाद) में हुआ था। आपने शिक्षा काशी में प्राप्त की। अंग्रेजी, फ़ारसी संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, बँगला का आपने अच्छा अध्ययन किया। आपने साहित्य-रचना का अभ्यास सिक्ख महन्त बाबा सुमेरसिंह के समागम में किया। कविता, नाटक, उपन्यास—साहित्य के इन तीनों अंगों की रचना की। भाषा—ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों पर समान अधिकार था। आपकी कुछ कविता उर्दू रूपकों से भी प्रभावित हैं। 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे' 'बोल-चाल' आपकी उर्दू के ढंग की मुहावरेदार रचनाएँ हैं। ग्रंथ—'प्रिय-प्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य। 'रुक्मिणी विजय' और 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' नाटक। 'वेनिस का बाँका' 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', और 'अधखिला फूल' उपन्यास। 'पद्य प्रसून' और 'कल्पलता' कविता संग्रह। 'रस कलश' नव रसों पर एक नवीन रचना।

१३. मैथिलीशरण गुप्त

श्री गुप्तजी का जन्म सन् १८८६ में चिरगाँव (जिला झाँसी) में हुआ। आपकी अधिकांश शिक्षा घर पर ही हुई। आपके काव्य-गुरु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। आप विशुद्ध खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं। आप परम भक्त, उदार एवं सरल-हृदय हैं। राष्ट्र

और समाज के सच्चे सेवक हैं। 'भारत-भारती' द्वारा आपने आर्य संस्कृति के गौरव को बताकर समाज में जागृति उत्पन्न की। भाषा—शुद्ध खड़ी बोली। छन्द—कुछ मौलिक छन्दों की सृष्टि के साथ-साथ प्राचीन छन्दों को अपनाया है। ग्रन्थ—अनेकानेक हैं। कुछ प्रमुख एवं प्रसिद्धि-प्राप्त रचनाएँ—भारत-भारती, साकेत, यशोधरा। 'साकेत' पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषक भी प्राप्त हुआ है।

१४. माखनलाल चतुर्वेदी

श्री माखन लाल चतुर्वेदी जी का जन्म सन् १८८८ में बाबई, होशंगाबाद (मध्यप्रान्त) में हुआ था। आप शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात अपने प्रारंभिक जीवन में अध्यापक रहे। किन्तु आपकी साहित्यिक अभिरुचि आपको साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में शीघ्र ही खींच लाई। "खण्डवा" से "प्रभा" नामक पत्रिका निकाली। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ 'प्रभा' और 'प्रताप' का सम्पादन किया। साप्ताहिक 'कर्मवीर' के सम्पादक है। आपकी कविता भावुकता, राष्ट्रीय भावना एवं प्रेमानुभूति से ओत प्रोत है। भाषा-शुद्ध खड़ी बोली है। ग्रंथ-'हिम किरीटिनी' कविता संग्रह; 'कृष्णार्जुन युद्ध नाटक।

१५. जयशंकर प्रसाद

श्रीप्रसादजी का जन्म सन् १८८९ में काशी (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आपने इतिहास, पुराण एवं दर्शन का विस्तृत अध्ययन घर पर ही किया। किशोरावस्था से ही कवियों के सत्संग के कारण कविता का चाव लगा। हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक थे। भारतीय संस्कृति एवं अतीत के गौरव के प्रबल समर्थक थे। अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा प्राचीन गौरव का स्मरण कराया। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी नाट्य-साहित्य में नवीन जागृति और स्फूर्ति प्रदान की। प्रसाद गम्भीर, भावुक एवं दार्शनिक थे। अतः इनके काव्य में रहस्यवाद की भी स्पष्ट झलक है। भाषा—खड़ी बोली है, संस्कृत के

तत्सम शब्द अधिक हैं। इन्होंने प्रारम्भ में ब्रजभाषा में भी कविता की। हिन्दी में अतुकान्त कविता को जन्म दिया। प्रसिद्ध रचनाएँ— 'आँसू', 'झरना', 'लहर', 'कामायनी'—कविता संग्रह। अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त—नाटक। कंकाल, तितली—उपन्यास। 'आँधी', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप'-कहानी संग्रह। कामायनी आपका सर्वश्रेष्ठ काव्य है जो मंगलाप्रसाद पारितोषिक से पुरस्कृत है।

१६. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

श्री निराला जी का जन्म १८९६ में बंगाल के महिषादल राज्य में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा बंगला में हुई तत्पश्चात् हिन्दी में अध्ययन किया। कविता करने का शौक बचपनसे ही रहा। आपकी प्रारम्भिक कविता बंगला में तत्पश्चात् हिन्दी में हुई। बीस वर्ष की अवस्था में पत्नी के देहान्त होने पर कलत्ता आये। यहां श्री रामकृष्ण परमहँस एवं स्वामी विवेकानन्द के विचारों से प्रभावित हुए। 'समन्वय' और 'मतवाला' का सम्पादन किया। यहीं से इनकी काव्य-प्रतिभा को यश प्राप्त हुआ। ये अत्यन्त भावुक, विरक्त एवं दार्शनिक हैं। निस्सार संसार की वेदना मुक्ति की जिज्ञासा, मिलन की उत्कण्ठा भावुक हृदय में कूट-कूट कर भरी है। ये एकात्मवाद के समर्थक रहस्य वादी कवि हैं। भाषा-संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है। इन्होंने हिन्दी में अमात्रिक छन्दों को जन्म दिया जिसे आप मुक्तक काव्य (फ्री वर्स) कहते हैं। प्रसद्ध रचनाएं—'अनामिक', 'परिमल', 'गीतिका' (कविता-संग्रह) 'तुलसीदास' (खण्ड काव्य) 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती' (उपन्यास) 'लिली', 'सखी', 'शुकुल की बीबी' (कहानी-संग्रह)

१७. सुमित्रानंदन पंत

श्री सुमित्रानन्दन पंत जी का जन्म दो मई सन् १९०० को कसौनी ग्राम (अलमोड़ा) में हुआ। शिक्षा आपने अलमोड़ा एवं काशी में इन्टर

मीडियेट तक प्राप्त की। कविता का शौक दसवीं कक्षा से लगा। आपने अँगरेजी बंगला और संस्कृत के लालित्य का प्रगाढ़ अध्ययन किया है। आप कोमल और सुन्दर भावों के उपासक हैं। अपनी प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति और मानव के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित कर, आपने नवीन छायावादी शैली को अपनाया। आप सुख-दुख को बराबर बाँटना चाहते हैं इसीलिये आपने मार्क्स के साम्यवाद और विश्वप्रेम की भावना पर भी आपने कुसुमाञ्जलि भेंट की है। आपकी यथार्थवादी कविता में समयानुसार घटनाओं का वास्तविक एवं सुन्दर चित्रण होता है। भाषा—खड़ी बोली। आपने कोमल-कांत पदावली को जन्म दे खड़ी बोली का भी कायाकल्प किया है। व्याकरण के जटिल नियमों के बन्धन में आप नहीं पड़े। बंगला के आधार पर नवीन छन्दों को आपने अपनाया। प्रसिद्ध रचनाएँ—वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, युगान्त, युगवाणी, गुंजन। पाँच कहानी (कहानियाँ)। ज्योत्सना (नाटिका) हार (उपन्यास)।

१८. सुभद्रा कुमारी चौहान

श्री सुभद्रा कुमारी जी का जन्म सन् १६०४ में प्रयाग में हुआ था। आपका विवाह खँडवा के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्य-कर्ता ठा० लक्ष्मण सिंह चौहान के साथ हुआ। हिन्दी साहित्य में कवियत्री के रूप में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी रचनाएं सरल ओजस्वी और प्रभावोत्पादक हैं। कोमल भावनाओं के साथ-साथ आपकी रचनाएं देश-प्रेम और वीरता से ओत-प्रोत हैं। आप एक कुशल राष्ट्रीय कार्य-कर्त्री और मध्यप्रान्त की असैम्बली की सदस्या थीं। आपकी प्रसिद्ध रचनाएं—मुकुल (कविता संग्रह) और बिखरे मोती (कहानी संग्रह) हैं। इन दोनों पर ही आपको सेकसेरिया पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

१९. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

श्री नवीन जी का जन्म सन् १६०० में शाजापुर (ग्वालियर) में

हुआ था। आपने शिक्षा उज्जैन एवं कानपुर में प्राप्त की। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी से कानपुर में आपका सम्पर्क हुआ। आपने राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी काफी भाग लिया। 'प्रताप' और 'प्रभा' पत्रों का सम्पादन भी आप करते रहे। आपकी कविता राष्ट्रीय भावों से पूर्ण है। आपका गद्य और पद्य पर समान अधिकार है। आपकी भाषा सरल, सुन्दर एवं प्रवाह युक्त है। 'कुंकुम' नाम से आपकी कविताओं का संग्रह छप चुका है।

२०. भगवतीचरण वर्मा

आपका जन्म शफीपुर, जि० उन्नाव, उत्तर प्रदेश में हुआ था, ये बी० ए० एल० एल० बी० पास कर वकालत करने लगे। कविता का शौक विद्यार्थी जीवन से ही था। वकालत में मन न लगने पर पूर्ण रूपेण साहित्य सेवा करने लगे। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी से आपको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। आपकी कविता में प्रेम और सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण है। कर्म योग में अटल विश्वास रखते हैं। आपकी भाष- सरल किन्तु सुन्दर भावों के उपयुक्त है। 'मधुकण' और 'प्रेम संगीत' आपके सुन्दर कविता-संग्रह हैं। 'चित्रलेखा' आपका प्रसिद्ध उपन्यास है एवं एन्स्टालमेंट (कहानी संग्रह) है।

२१. हरिवंशराय बच्चन (जन्म सं० १९६५)

श्री बच्चनजी का जन्म २७ नवम्बर १९०१ को इलाहाबाद में हुआ। आपको बचपन से ही पद्य निर्माण का शौक था। एम० ए० के छात्र रहते हुए आपने 'उमर खैयाम की रुबाइयों' का हिन्दी अनुवाद किया जिसका हिन्दी जगत में अत्यन्त स्वागत हुआ। आप प्रगतिशील कवि हैं। आपकी कविता सरसता, सरलता और प्रभा-वोत्पादकता अधिक है। 'निशा नियन्त्रण' में दुखी कवि-हृदय की अभिव्यक्ति है। उसकी कविताएँ वेदना से ओत-प्रोत हैं। आपकी 'मधुशाला' ने बहुत ख्याति प्राप्त की है। मधुबाला, मधुकलश,

एकान्त संगीत भी आपकी सुन्दर रचनाएँ हैं।

२२. रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्री दिनकर जी का जन्म सन् १९०८ में सिमिरियाघाट, जिला मुँगेर (बिहार) में हुआ था। पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० तक आपने शिक्षा प्राप्त की। आप बिहार के प्रतिनिधि कवि हैं। आपका हृदय देश-भक्ति और राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। सरलता आपका स्वाभाविक गुण है। आपके काव्य में से भारतीय आत्मा झाँकती है। उसमें भारत का प्राचीन गौरव सजीव रूपेण वर्तमान है। आपकी भाषा सरल किन्तु ओज और प्रवाह से युक्त है।

२३. रामकुमार वर्मा

श्री रामकुमार वर्मा का जन्म सन् १९०५ में सागर जिले के एक गाँव में हुआ। आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। आपको बचपन से ही कविता लिखने का शौक रहा है। आपकी वीर हमीर, कुल-ललना, चितवन, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, अंजलि, रूप-राशि, निशीथ, चित्र-रेखा, आदि काव्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कवि होने के साथ-साथ आप समालोचक भी हैं। कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं।